'भारतीय लेखक शिविर एवम् आचार्य विद्यानिवास मिश्र स्मृति-संवाद''

(14-18 जनवरी, 2009)

14 जनवरी, 2009

उद्घाटन सत्र :

पतितपावनी माँ गंगा के मोक्षदायी तट पर अवस्थित भारत के सांस्कृतिक तीर्थस्थल एवम् बाबा विश्वनाथ की पवित्र नगरी काशी के 'रथयात्रा' स्थित 'कन्हैयालाल गुप्ता मोतीवाला स्मृति भवन' के सभागार में 'विद्याश्रीन्यास तथा भाषा संस्थान, उत्तरप्रदेश के संयुक्त तत्वावधान में 'भारतीय लेखक शिविर' और 'आचार्य विद्यानिवास मिश्र स्मृति-संवाद' के वैचारिक उत्सव में पांच दिनों तक विभिन्न सत्रों में आये भाषा-साहित्य के मर्मज्ञों, शब्द-शिल्पियों, रचनाकारों, संस्कृतिकर्मियों, समीक्षकों-आलोचकों एवम् विविध पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों ने मिश्र जी के व्यक्तित्व-कृतित्व के आलोक में साहित्य के साथ-साथ भारत की संस्कृति तथा चिंतन परम्परा के विभिन्न आयामों पर उन्मुक्त विचार-विमर्श किया गया।

पूर्वाह्न 10.00 बजे, सुप्रसिद्ध व्यंग्कार डॉ. गोपाल-चतुर्वेदी, अध्यक्ष भाषा-संस्थान, उ.प्र., लखनऊ की अध्यक्षता में सम्पन्न उद्घाटन-सत्र के मुख्य अतिथि थे डॉ. अवधराम, कुलपति, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी तथा संचालन किया 'विश्व भोजपुरी सम्मेलन' के अन्तरराष्ट्रीय महासचिव डॉ. अरुणेन नीरन ने। डॉ. महेश्वर मिश्र, अध्यक्ष विद्याश्री न्यास ने स्वागत-वक्तव्य दिया। अपने सम्बोधन में डॉ. अवधराम ने मिश्र जी के गँवई मन, भाषा-साहित्य की मर्मज्ञता, जीवन-दृष्टि तथा समाज-चेतना पर प्रकाश डाला। डॉ. गोपाल चतुर्वेदी ने कहा कि वे प्रगतिशील परम्परा के समर्थक, सम्पोषक, रक्षक और संवर्द्धक थे। उनकी साधना ने भारतीय संस्कृति और परम्परा को वैभवशाली बनाया है, जो उनके जीवन-दर्शन का अभिन्न अंग थी।

इस अवसर पर विद्याश्री न्यास की ओर से लब्धप्रतिष्ठ गीतकार श्रीकृष्ण तिवारी को 'लोककवि-सम्मान' से समादृत किया गया तथा अतिथियों द्वारा श्री मिश्र जी की बहुचर्चित कृति 'हिन्दू धर्म, सनातन की खोज' के डॉ. रत्ना लाहिड़ी द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद द हिन्दू वे : अ सर्च फॉर द इटर्नल' का लोकार्पण भी किया गया। इसके अतिरिक्त फाउंडेशन्स आव इण्डियान एस्थेटिक्स तथा 'फ्राम द गंगा टु द मेडीटेरियन' शीर्षक दो अन्य ग्रन्थों का भी लोकार्पण किया गया। इस अवसर पर पूर्वोत्तर भारत की छात्राओं के स्वागत-गान ने श्रोताओं को अभिभूत कर दिया था।

प्रथम सत्र : आचार्य विद्यानिवास मिश्र स्मृति संवाद

इस सत्र की अध्यक्षता श्री रामचन्द्र खान, पटना ने की तथा संयोजक थे डॉ. अरुणेश नीरन। कार्यक्रम को गति देते हुए डॉ. नीरन ने मिश्र जी के साथ अपने 40 वर्षों की दीर्घ यात्रा से जुड़ी स्मृतियों को रेखांकित करते हुए उनके व्यक्तित्व की अथाह गहराई को समुद्र तथा आकाश की नीलिमा के आलोक में समझाने की चेष्टा की तथा जीवन-यात्रा के मध्य में सहसा पत्नी के साथ छोड़ जाने से आहत मन की

व्यथा-कथा को निजी संस्पर्श देते हुए, मृत्यु के देवता भगवान् शिव के पत्नी-वियोग एवम् उनके ताण्डव-नृत्य से अनुबंधित कर, उसकी सत्यता को सार्वभौमिक और सार्वजनीन बताया। डॉ. शंकर लाल पुरोहित, उड़ीसा, ने श्री मिश्र जी के साथ आत्मीय सम्बंधों की चर्चा करते हुए अनेक मधुर घटना-प्रसंगों को उपस्थित किया और कहा कि उन्होंने पंडित जी को वाल्मीकि की तरह पर-पीड़ा-बिद्ध होते हुए अत्यन्त निकट से देखा है। इस संदर्भ में डॉ. पुरोहित ने 1998 के उड़ीसा-तूफान पर आधारित नाटिका को देखकर पंडित जी की व्याकुलता की अनेक पर्तों को अनेक रूपों-संदर्भों में प्रस्तुत करने की कोशिश की तथा यह भी बताया कि पंडित जी यद्यपि भारतीय परम्परा पर विशेष श्रद्धा रखने वाले थे और एकादशी व्रत रखते थे, किसी और के हाथ का बनाया भी नहीं खाते थे, किन्तु पुरी में भगवान् जगन्नाथ के सामने, उनके आग्रह पर उनका दोनों व्रत टूट गया था। उन्होंने महाप्रसाद का कच्चा भोजन भी बड़े चाव से ग्रहण किया। डॉ. पुरोहित ने कहा कि वास्तव में, पंडित जी ने धर्म को मुकुट की तरह सिर पर धारण नहीं किया था, अपितु जनेऊ की तरह भीतर धारण किया था, जिसमें प्रदर्शन का लेश भी नहीं था। उनकी चिन्तन-परम्परा में सामाजिक और शाश्वत चिन्तन दोनों समाविष्ट थे।

भारतीय भाषा-संस्थान के निदेशक डॉ. जगदीश डिमरी ने पंडित जी से जुड़े अनेक संस्मरणों, विशेषकर उनकी विदेश-यात्रा पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए, उनके अंग्रेजी व्याख्यान, भाषा-विज्ञान में पैठ और अभिव्यक्ति से जुड़े कई प्रसंगों का उल्लेख किया और कहा कि पंडित जी पाणिनि पर विशिष्ट पुस्तक लिखना चाहते थे तथा अष्टाध्यायी को अपनी बाइबिल कहा करते थे, जिसे वे सदैव अपने साथ लेकर चलते थे। डॉ. डिमरी ने पं. जी के लिखे दो पत्रों को भी पढ़कर सुनाया और पंडित जी के सम्बन्ध में तमाम यूरोपीय रूसी, ग्रीक आदि विद्वानों के मन्तव्यों की चर्चा की। पंडित जी द्वारा इंडियन पोइटी पर दिए गये चार व्याख्यानों का उल्लेख करते हुए डॉ. डिमरी ने बताया कि किस प्रकार एक विदेशी संगोष्ठी में भारतीय वेशभूषा धारण किए हुए पंडित जी ने पितृशोक के कारण मुंडित सिर, अंग्रेजी में धाराप्रवाह व्याख्यान देकर श्रोताओं को विस्मित कर दिया था।

पंडित जी के विद्यार्थी जीवन के मित्र श्री चन्द्रभूषणधर द्विवेदी ने छात्र-जीवन के अनेक दुर्लभ और सहज घटना-प्रसंगों को स्वाभाविक प्रस्तुति देते हुए उन्हें रघुवंश का रघु घोषित किया तथा बताया कि किस प्रकार वे अपने हाथ से भोजन बनाते, कुर्ता उतारकर खाना खाते थे और किस प्रकार एक किराये के मकान में एक ही चौकी पर उनका भोजन, भजन, अध्ययन तथा शयनादि सब कुछ चलता थां काशी विद्यापीठ के कुलपति होने का अहंकार उन्हें छू तक नहीं पाया था। विद्या और पद का बोझ, उनके कंधों को झुकाने में सदैव असमर्थ था। अपने कार्यकाल में उन्होंने अपनी कर्तव्यपरायणता के मार्ग में मुख्यमंत्री तक को अवरोध उत्पन्न करने की कुचेष्टा नही करने दी। एक कुलपति के रूप में उन्होंने किसी के भी दबाव में कभी कोई काम नहीं किया। यात्रा करने से परहेज करने की राय देने पर उन्होंने एक बार कहा था- ''जब तक मैं चलता रहता हूँ तभी तक खुद को जीता हुआ महसूस करता हूँ।'' करपात्री जी, मार्कण्डेय ब्रह्मचारी धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, बाबू राम सक्सेना आदि की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी ने कहा कि पंडित जी कुशल संपादन, प्रशासन, प्रबंधन तथा विद्वता की सीमा थे और उन-जैसा व्यक्तित्व इस धरती पर कभी-कभी अवतरित होता है।

पंडित जी की मित्र-परम्परा के दूसरे वक्ता श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय ने पंडित जी के साथ अपनी पहली मुलाकात और तत्पश्चात् के जीवन की अनेक घटनाओं का उल्लेख करते हुए उनके व्यक्तित्व एवम्

कृतित्व पर विस्तृत प्रकाश डाला और कहा कि पंडित जी की जीवन-दृष्टि, चिन्तन और अभिव्यक्ति अत्यन्त वैज्ञानिक थी, बावजूद इन सबके उन्होंने अपने ब्राह्मण-व्यक्तित्व का कभी परित्याग नहीं किया। उनकी देन हमारे लिए अमूल्य धरोहर है, जो भावी पीढ़ी को सदैव प्रेरित करती रहेगी।

डॉ. रमाशंकर द्विवेदी की दृष्टि में पंडित जी का व्यक्तित्व सर्वदा विवादों से घिरा रहा है तथा उनका सामना करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं थी।

अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में श्री रामचन्द्र खान ने पंडित विद्यानिवास मिश्र, तत्कालीन परिस्थितियाँ, वात्स्यायन, नागार्जुन, नामवरसिंह आदि का उल्लेख करते हुए पंडित जी के विलक्षण व्यक्तित्व की विस्तृत चर्चा की और कहा कि भारत सदैव उनकी रचनाओं के केन्द्र में रहा है, उनकी चिन्ता के केन्द्र में रहा है तथा वे भारतीय साहित्य के निर्माता थे। अपने व्याख्यान-क्रम में श्रीखान ने डॉ. नामवर सिंह द्वारा रथ रोक लेने एवम् पंडित जी से प्रभावित होकर वात्स्यायन जी के जनेऊ पहन लेने-जैसी अनेक घटनाओं की भी चर्चा की।

सांस्कृतिक संध्या : कवि गोष्ठी

श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय की अध्यक्षता तथा श्रीकृष्ण तिवारी के कुशल संचालन में सम्पादित कवि-गोष्ठी का प्रारम्भ हरिप्रियसारि देवी थोकचोम, मणिपुर एवम् काकोली गोगोई, असम की सरस्वती-वंदना से हुआ। नारी-विमर्श को रूपायित करती कविता 'काम से लौटती हुई औरत' के साथ ही संजय शाम ने 'अंधे की आँख की तरह होती है, गूँगे की जुबान' तथा 'मेघों ने झटके हैं केश, दिन फिरेंगे किसानों के' कविताएँ भी पढ़ीं। श्रोताओं के विशेष आग्रह पर डॉ. अरुणेश नीरन ने नव वर्ष की पूर्व संध्या पर 'लोग साफ कर रहे थे अपना घर, बाँच रहे थे अपनी कुंडली.....' कविता एवम् पंडित जी की स्मृति से जुड़ी कविता 'घर'- 'घर छूट गया था पीछे...' पढ़कर सबको मंत्रमुग्ध कर दिया। काकोली गोगाई, असम की कविता 'मेरी तरफ' में आत्म-वेदना की टीस मुखर हुई थी। कवयित्री डॉ. विद्याबिन्दु सिंह, लखनऊ, ने 'माँ' एवम् 'मैं चाहती हूँ' कविताओं के माध्यम से माँ की महिमा-गरिमा तथा नारी-मन के रूप-रंग, उसकी आकांक्षा आदि को अभिव्यक्ति प्रदान की। संतोष कुमार मेघालय की शेर-अदायगी के बाद हरिप्रियसारि थोकचोम, मणिपुर ने 'भारत' शीर्षक कविता के माध्यम से जहाँ भारत का यशोगान किया, वहीं 'मणिपुर की शर्मिला' की पंक्तियों में उसकी वर्तमान विसंगतियों तथा नारी-पीड़ा के करुण-चित्र देखने को मिले। श्री रविकेश मिश्र, बगहा, बिहार ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'गंगा' की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत कीं, जिसमें बेटी की वेदना सजीव हो उठी थी- 'हाल बतावत लइकिन के तोसे माई रे मोर जबान गलेले। अंग हईं हमहूँ रे समाज के एसे लजाइलें आँख झुकेले।' डॉ. अशोक कुमार सिंह के शेर 'काट लो यह रात जितनी भी घनी है, बाद इसके रोशनी ही रोशनी है' में आशा का स्वर्णिम प्रभात तथा 'ओ नदी इतनी खबर तो है मुझे भी तू नहीं रुकती किसी के गाँव' में जीवन में गति और संकल्प-शक्ति की महत्ता रूपायित हुई थी। कुबेर नाथ मिश्र 'विचित्र', देवरिया, राम गोपाल सर्राफ, राजस्थान, अशोक सिंह 'घायल', जौनपुर की कविताओं में पारिवारिक और सामाजिक संत्रास के साथ निजी संस्पर्श परिलक्षित था। श्रीरामअधार पाण्डेय की कुंडलियाँ राजनीतिक विद्रूपताओं का पर्दाफाश कर रही थीं- 'बाग उजड़ते मन मसोस कर देख रहा है माली, क्रिमिनल फीता काट रहे विद्वान बजाते ताली'। ब्रह्मानन्द पंडित, डॉ. पवन कुमार शास्त्री, योगेन्द्रनारायण 'योगी' की कविताएँ भी

यथार्थ की जमीन पर खड़ी दिखीं। गिरिधर 'करुण', देवरिया ने 'महक रही सुधि की कस्तूरी, मन का हिरना वन-वन डोले।। दिन आते हैं, दिन जाते हैं, मन मसोस के रह जाते हैं, दूर बादलों की बस्ती में इन्द्र धनुष के उड़न खटोले।।' गीत की सस्वर प्रस्तुति से श्रोताओं को भाव विभोर कर दिया। डॉ. रत्ना लाहिड़ी की कविता पं. विद्या निवास मिश्र की स्मृति से संबद्ध थी, जबकि श्रीमती रंजना राय के गीत में निद्रापहरण की आशंका सुगबुगा रही थी- 'नैनों में निंदिया, निंदिया में सपने, सपने में अपने समाए' मेरी निंदिया न कोई चुराए।' कविता में नित नये प्रयोग करने में सिद्ध प्रकाश उदय की सम्वाद शैली में प्रस्तुत कविता 'का हो, का हालचाल? चकाचक, ठीकठाक, ठीकेठाक' ने खूब वाहवाही बटोरी। डॉ. अनंत मिश्र ने 'झुकी हुई स्त्री गर्दन पर बाल खोलती है, दिख गये मर्द को देखती है और अन्दर भाग जाती है' तथा 'घर' शीर्षक कविता द्वारा गोष्ठी को नयी दिशा देने की कोशिश की। डॉ. ब्रजेन्द्र त्रिपाठी की कविता 'शाम' एवम् 'घर' तथा श्रीकृष्ण तिवारी के गीत 'रेत पर एड़ी रगड़कर थक गया तो मन हुआ अब मैं नदी बन कर बहूँ' ने श्रोताओं को कविता की महत्ता और सामर्थ्य से परिचित कराया। ओंकार द्विवेदी, इन्द्रकुमार दीक्षित की कविताओं में निजता की सुगंध घुली थी। पं. हरीराम द्विवेदी के गीत 'उतरे अँगनवा में घाम गते-गते' चिक्कन किरिनिया के डोर नयन बिछिलाए लगल' ने मंच को काव्य-सौन्दर्य में आकण्ठ डूबो दिया। श्री नर्मदेश्वर उपाध्याय के अध्यक्षीय काव्य-पाठ में समर्पण का संदेश ध्वनित था- 'दिए की लौ-सी सुहागिन-साँझ पूजन को खड़ी है, यह प्रतीक्षा की नहीं पावन समर्पण की घड़ी है।''

15 जनवरी, 2009

प्रथम सत्र : 'हिन्दी निबंध-परम्परा एवं पं. विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध'

प्रथम सत्र की विचार-संगोष्ठी के अध्यक्ष थे सुप्रसिद्ध व्यंगकार श्री गोपाल चतुर्वेदी तथा संचालन किया था **डॉ. उदय प्रकाश** ने। बीज-व्याख्यान देते हुए डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने निबंध को परिभाषित करते हुए बताया कि निबंध सर्वाधिक अनौपचारिक एवम् निर्बंध विधा है। यह अपनी अनौपचारिकता में आत्म-तत्त्व का विस्तार, प्रकाश और आत्मचैतन्य होता है तथा आत्मविश्राम का संवाहक होता है। डॉ. पालीवाल ने बताया कि हिन्दी निबंध की परम्परा मुखौटा लगाने की रही है जिसकी आड़ में वह अपनी बात करने की छूट लेता है। भारतेन्दु एवम् अज्ञेय आदि ने भी व्यक्तिव्यंजक एवम् सामाजिक निबंधों में मॉस्क का सहारा लिया है, किन्तु सच्चा मॉस्क बालकुमुन्दगुप्त के निबंधों में देखने को मिलता है। पं. विद्यानिवास मिश्र का मुखौटा 'भ्रमरानन्द के पत्र' के रूप में आता है। उस समय उनकी स्मृति में दो नाम आते हैं- योगी अरविन्द एवम् आनन्द कुमार स्वामी, जिन्होंने भारतीय चिन्तन को नयी दिशा दी। कुमार स्वामी ने कहा कि सबसे खतरनाक वस्तु है पश्चिमी आधुनिकता, जिससे यह देश अपनी परम्परा खो देगा, चिन्तन-पद्धति और अस्मिता खो देगा। अतः इससे बचना चाहिए। इसी से अनुप्रेरित होकर 'भ्रमरानंद के पत्र' लिखा गया। पश्चिमी आधुनिकता प्रायोजित और सुनियोजित रही है जो किसी देश को आत्मविस्मृति की ओर ले जाने के लिए ही परोसी गयी थी। पंडित जी इसे लेकर बहुत चिन्तित थे। पंडित जी विजय के संदर्भ में कहा कि अब इसके विजय-तत्त्व में आस्था नहीं रही, अतः अब राम की विजय-यात्रा की बात बेमानी हो गयी है। अतः अब प्रश्न है कि राम-कथा ही कलंकित नहीं हुई है, वैदिक संस्कृति भी कलंकित हो गयी है। देव-परम्परा तथा देवी-पूजन आदि की विस्मृति- सब कुछ पंडित जी को आकुल किए हुए है। 'जयंती मंगला काली' आदि की नूतन

व्याख्या, पाठ-विश्लेषण एवम् भाषा की मजबूत परम्परा रही है। निरंतर बहुलार्थ, स्थापन-विस्थापन की परम्परा चलती रही है अर्थात् हमारी परम्परा बीज और वृक्ष की परम्परा है। बीज में शाखा, वृक्ष, पुष्प-पत्र, फल, सब कुछ छिपा है और वृक्ष में बीज छिपा है। इस परम्परा में पुरानी चीजों के प्रति आस्था है जबकि नयी परम्परा में संशय के काँटे हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को आध्यात्मिकता फूटी आँख पसंद नहीं थी। इस पर एक मजबूत बहस चली थी। इसका प्रभाव पंडित जी पर पड़ा। हमारे यहाँ काव्य और कला में फर्क है। हमारी परम्परा, तादात्म्यीकरण की परम्परा है। समर्पण की परम्परा है। साधारणीकरण में यही परिलक्षित है। हमारी कविता निसर्गजात छवि है। पंडित जी एवम् अज्ञेय, दोनों ने काल और कला-केन्द्रित सैकड़ों निबंध लिखें- हमारा काल चक्रानुवर्ती है। काल वह सर्प है जो अपने मुँह में अपनी पूँछ डालता दिखायी देता है। इस प्रकार काल की कल्पना विभिन्न रूपकों द्वारा प्रदर्शित की गयी है।

पंडित जी के निबंध भारतीय जीवन की कालिदासीय लय का साक्षात्कार है जो निरूपण, विश्लेषण, पाठ-कुपाठ, सबमें आनंद की सृष्टि करते हैं। अज्ञेय एवम् निर्मल वर्मा का मन नागर मन है, जबकि पंडित जी का मन गँवई, ठेठ गाँव का मन है, जो बार-बार राम की ओर जाता है। भक्ति-काव्य और भक्ति-रस को भी उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की परम्पराके आलोक में अभिनव दृष्टि प्रदान की, प्रेम की विराटता का बोध कराया, उसकी असीमता की व्याख्या की, ईश्वर को प्रेम-विवश मनुष्य बनने को बाध्य किया। सूफियों की परम्परा, उनके दर्शन पर प्रकाश डाला। महात्मा बुद्ध के 'अबैर में रहना' की व्याख्या की।

पश्चिम में व्यक्तिवाद का उदय हुआ तो वह प्रकृति के विरोध में खड़ा हो गया। वहाँ केन्द्र में मनुष्य है, जबकि भारतीय चिन्तन के केन्द्र में सचराचर है, जड़-चेतन दोनों हैं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' और अज्ञेय की 'शेखर एक जीवनी' आदि का प्रभाव पंडित जी पर पड़ा है। उनके निबंधों में नियति की अद्भुत व्याख्या दिखाई देती है। हजारी प्रसाद द्विवेदी सूरदास से चलकर कबीर तक पहुँचे थे, जिसे विद्वानों ने छिपाया है, जिसकी इंटेलेक्चुअल इन्क्वायरी होनी चाहिए। पंडित जी आर्य, द्रविड़ संस्कृति के तत्त्व को गंभीर ज्ञान-मीमांसा प्रदान करते हैं। हमारी परम्परा मिश्र संस्कृति की परम्परा है। पश्चिम ने ''कल्चर'' के नाम से भारतीय संस्कृति को नष्ट करने का षड्यंत्र किया। पं. जी परम्परा को बंधन नहीं, विकास का आधार मानते हैं। उन्होंने संस्कृत के ज्ञान को हिन्दी को समर्पित किया। इस क्रम में संकेतक और संकेतित की भी व्याख्या की तथा काव्य-प्रयोजन, आधुनिकता तथा भारतीयता की भी चर्चा की। पश्चिम ने हमारे सार-सर्वस्व पर हमला किया। आज सारा हिन्दुस्तान सजीव रहते हुए पश्चिम के चलते जीवहीन हो गया है। इस उत्तर आधुनिकतावाद के जमाने में असली सिक्के को नकली सिक्के विस्थापित कर रहे हैं। पंडित जी नवजागरण और स्वतंत्र चेतना के निबंधकार हैं।

डॉ. श्रीराम परिहार ने अपने आलेख में पंडित जी को भारतीय मनीषा की नवोन्मेषालिनी प्रतिभा के प्रतीक-पुरुष के रुप में स्थापित किया। उनका समग्र साहित्य केन्द्र से परिधि की ओर विस्तार है। बीज से महावृक्ष बनने की प्रक्रिया है और बूँद से समुद्र के निर्माण की प्रतीति है। उसमें फूल बीनते हुए सृष्टि में परिव्याप्त सुगंध के महाविस्तार के बोध की यात्रा है। राम के भींगते हुए मुकुट को बिरछ तले बचाने की करुण आकांक्षा है। भूगोल की सीमाओं के पार विस्तारित मनुष्य के महाभाव को उसकी जमीन पर खड़ा करने की मनुहार है। दर्शन की दृष्टि से देखें तो शिव-शक्ति का अद्वयस्वरुप तत्त्वातीत रूप में शिव और शक्ति

दोनों का मूल स्तम्भ बनकर प्रतिष्ठित है। यही स्वरूप श्रीराधा-श्रीकृष्ण के लीलास्वरुप और श्रीसीता-श्रीराम के मर्यादास्वरूप में प्रापञ्चिक जगत् के आदि संकल्प या नियति के रूप में प्रकाशित हुआ है।

पंडित जी की समग्र दृष्टि मनुष्य के जीवनबोध की पवित्रता में निहित है। वे अखण्ड जीवन और अखण्ड जीवन-दृष्टि की तलाश सौन्दर्य की नैतिकता में करते हैं। परम्परागत भारतीय मूल्यों का पुनरीक्षण, जातीय अस्मिता की परख, परम्परा की स्वरूप-व्याख्या, चेतना का यथार्थवादी और वैज्ञानिक परीक्षण, मिथकों का वर्तमान सन्दर्भों में आकलन, भारतीय मानसिकता का नये के प्रति अनुराग तथा उसकी समन्वयवादी दृष्टि के आधार को उनके ललित निबंधों में साहित्य के अन्तःसूत्रों के रूप में देखा जा सकता है।

पंडित जी अपने ललित निबंधों में प्राकृतिक मानवता-आधारित संस्कृति का सर्जन-अनुष्ठान करते हैं। यह अनुष्ठान मनुष्य को त्यागपूर्वक कार्य सम्पादन करते हुए देवत्व की ओर उन्मुख करता है। इसे ही वे 'मानुष-धर्म' भी कहते हैं और इस धर्म-सम्पादन के लिए मनुष्य का आवाहन करते हैं।

पं. मिश्र केन्द्र के उस लालित्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, जो जीवन को अनेक दिशाओं में उसके अनुशासन में परिचालित और व्यवहृत करता है, जिसकी परिणति ही आकाश, वायु, अग्नि, जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस बनती है। पर इन सबमें गंध की विद्यमानता ही असल सौन्दर्य और लालित्य का सर्जन करती है। यह गंध धरती की है, केन्द्र की है, मन की है। उनकी दृष्टि में परम्परा बंधन नहीं, विकास का आधार है। आंगन का पंछी हो या बंजारा मन, वे धरती और धरती की परम्परा की ही बात करते हैं। अपने ललित निबंधों के संसार में पंडित जी आम्र-पल्लव, दधि, दूर्वा, अक्षत, हल्दी, कुंकुम, चन्दन, पानी से जुड़ी क्रियाओं के मूल में पलती हुई अमर मांगलिक इच्छाओं को रेखांकित करते हैं, जो जीवन को पोषित और पुष्पित करने की पीठिका बनती है। दूसरे, जीवन और प्रकृति का साहचर्य बार-बार बिम्बित होता है। इनके रिश्तों का बंदनवारों से स्वागत किया जाता है। चौक पूरकर कलश में अखिल ब्रह्माण्ड, चराचर विश्व को समन्वयस्वरूप में देखा जाता है। ये परिकल्पनाएँ मन में स्थायी संस्कार बनाती हैं और कार्यों पर उनकी छाया पड़ती है तो विवेक और भाव दोनों ही मांगलिक सत्य की उड़ान पर अपने पंख तोलते हैं।

जन्म और मृत्यु, हास और रुदन के बीच ही पंडित जी का ललित निबंध साहित्य ऋचाएँ बाँच रहा है। इससे परे कुछ नहीं। वे भाव-यात्रा करते हुए भी मनुष्य और उसकी धरती को केन्द्र में रखते चलते हैं। वे मनुष्य को उसकी सम्पूर्णता में देखते हैं। उनकी अखण्ड दृष्टि धरती के जीवन की सत्ता में पराशक्ति की सत्ता का निहितार्थ प्रदर्शित कराती है। राम और कृष्ण, इन दोनों सांस्कृतिक चरित्रों के माध्यम से पंडित जी ने इस धरती के मनुष्यों का अपनी परम्परा में विकास स्थापित किया है। यह विकास मनुष्य का नर से नारायण तक का फैलाव है। पंडित जी संस्कृति-सूत्रों की खोज हमारी सनातन साहित्य परम्परा के भीतर करते हैं- जिसमें अखण्ड राष्ट्रीय बोध स्थापित है।

पं. जी के निबंधों की ललित गूँज मनुष्य के लघुत्व की विराट संभावनाओं के पथ बुहारती है। इस लालित्य ने ही दूब के हरेपन को पत्तियों में और जी की सरलता को बूंदों में सहेजा है। इनमें से हरियायी और आर्द्र जीवन-पद्धति ने सनातन की खोज ठानी है। एक भीतर की यात्रा जो मनकों में धागे की तरह मनुष्य-मनुष्य, जीव-जीव, चर-अचर के बीच चल रही है, उस यात्रा का पाथेय अहं का विसर्जन और अहं का विस्तार बना हुआ है। वे 'हिन्दू धर्म, जीवन में सनातन की खोज', 'भारतीयता की पहचान' तथा

'देश, धर्म और साहित्य' के केन्द्र में इस सृष्टि की सुन्दरतम और श्रेष्ठतम कृति मानव को ही रखकर भारतीय परम्परा के विकास की अनवरतता और अक्षुणता सिद्ध करते हैं।

विषय के आलोक में संगोष्ठी को सम्बोधित करते हुए डॉ. प्रभाकर मिश्र ने कहा कि पंडित जी का साहित्य हमें अवसाद में नहीं डालता। उसका स्वाद आँवले की तरह है जो पहले कसैला किन्तु बाद में मीठा लगता है। वे दुनिया के तमाम देशों में जाकर उनकी संस्कृति, भाषा, साहित्य को देखते हैं, किन्तु आतंकित नहीं हैं, क्योंकि उनके साथ उनका गँवई मन है। उनकी दृष्टि में ललित निबंध का प्रतिपाद्य चाहे जो है, किन्तु उसका विन्यास निबंधकार के अहं के द्रवित होने से ही होता है। उनके निबंधों में पठनीयता, रमणीयता, रसमयता है, जो डुबाता नहीं, साथ लेकर चलता है। उनके निबंधों को समझने के लिए हमें लोक-राग के पास जाना होगा और प्रकृति के विलास में रमना होगा। उसकी संवेदना और शिल्प, दोनों ही पहले के साँचों-खाँचों से भिन्न है, उनमें वैदिक सूत्रों से लेकर लोकगीतों के टुकड़े, तीज-त्योहार, प्रकृति और वसन्त एक ब्याज मात्र है। उनके ब्याज से लोक और शास्त्र को लोकाधुनिक करते हुए पंडित जी ने लोक और लोक के स्वर की पहचान करायी है।

डॉ. जितेन्द्र पाठक ने विषय को रेखांकित करते हुए कहा कि पंडित जी यद्यपि अनेकानेक पाश्चात्य निबंधकारों का नाम लेते हैं तथा उनके प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं किन्तु इसके बावजूद वे उनसे पृथक हैं। 'छितवन की छाँह' की चर्चा करते हुए डॉ. पाठक ने कहा कि वे जब मरघट जाते हैं, तो एक सिहरन लेकर जाते हैं, किन्तु लौटते हैं निर्भयता लेकर। राम-कृष्ण की कथाओं के भीतर पैठने की उनकी लालसा भारतीयता को समझने की चिंता है। पंडित जी की विश्व-दृष्टि का रास्ता भारतीयता से होकर जाता है। उनकी दृष्टि में ललित निबंध और व्यक्तिनिष्ठ निबंध में अन्तर है। वे रम्यता को लालित्य से जोड़ते हैं, किन्तु उसे विचार से भिन्न करके नहीं देखते। उनके निबंधों में विचार-पक्ष प्रबल है, किन्तु नियोजना बड़ी कलात्मक है, जो फूल, वृक्ष, त्यौहार आदि के जरिए अभिव्यक्त होती है। उनकी व्यक्ति-व्यंजना में व्यष्टि ही नहीं, समष्टि भी है। उनका व्यक्तित्व, अर्थों का खुलना, दर्शन का उघड़ना, इतिहास का उद्‌भेदन बड़े अद्भुत हैं।

कथाकार श्री गिरिराज किशोर ने अपना विचार रखने के लिए पंडित जी एवम् अज्ञेय के मध्य हुए एक संवाद को दृष्टांत के रूप में रखा, जिसमें, भारत क्या है?- इसे समझने की कोशिश की गयी थी। उनकी दृष्टि में पंडित जी का भारत भावयुक्त है। पंडित जी पाश्चात्य आधुनिकता के प्रसंग में बहुत प्रबल तार्किकता से खड़े होते हैं, और बताते हैं कि उसने भारतीयता को कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार से आहत किया है। वे गाँधी की तरह पाश्चात्य सभ्यता का अंध-समर्थन नहीं करते थे। गाँधी जी, पंडित जी एवम् अज्ञेय जी के विचारों की तुलनात्मक चर्चा करते हुए अंत में श्री गिरिराज किशोर ने कहा कि पंडित जी का सम्पूर्ण चिन्तन कृष्ण में समाहित है।

डॉ. वन्दना मिश्रा ने विषय के आलोक में हस्तक्षेप करते हुए कहा कि पं. विद्यानिवास मिश्र जी सीता के ही नहीं, राम के मन की पीड़ा को भी समझते हैं। राम की उस पीड़ा को, जिसने उन्हें एकदम अकेला कर दिया था। उन्होंने जन के लिए अपने सुख का त्याग कर दिया, किन्तु उन्हें नहीं मिला, तो जन-समर्थन। उस युग में भी वाल्मीकि और अरुन्धती उन्हें चुनौती देते हैं और आज भी मिथिला के लोकगीतों में उन्हें 'पापी' तक कहा जाता है। मिश्र जी मानते हैं कि राम अपने इस कष्ट को जानते थे। वे जानते थे कि आज से उनका निर्वासन शुरू। अतः पं. जी ने सीता के निर्वासन में राम का निर्वासन माना। पं. जी मानते

हैं कि हर महान् व्यक्ति को कभी-न-कभी इस तरह के द्वन्द्व से गुजरना पड़ता है, जिसमें उसे लगता है कि उसकी सारी सच्चाई व्यर्थ है। हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि महान् आत्माएँ इस तरह अकेली और निर्वासित न हों।

अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में श्री गोपाल चतुर्वेदी ने पंडित जी की दो रचनाओं 'भ्रमरानंद के पत्र' एवम् 'भ्रमरानंद का पचड़ा' पर संक्षिप्त प्रकाश डाला एवम् कहा कि पंडित जी के व्यंग्यों में इतनी वैचारिकता और गहराई है कि उनके हास्य-व्यंग्य की रसानुभूति सबके लिए सम्भव नहीं। भाषा की रवानगी उसकी विशेषता है। 'शिवजी की बारात' की चर्चा करते हुए श्री चतुर्वेदी ने पंडित जी के निबंधों के आलोक में उनके व्यंग्यों की सार्थकता, सामाजिक बोध एवम् राजनीतिक विसंगतियों पर किए गये प्रहारों की ओर इंगित किया तथा उनके द्वारा शिक्षा, समाज, आलोचना, राजनीति आदि को केन्द्र मानकर लिखे गये उनके तमाम व्यंग्यों की ओर भी इशारा किया तथा पंडित जी के व्यग्यों में आत्म-संयम, करुणा और गहन विमर्श को भी रेखांकित किया।

द्वितीय सत्र : 'साहित्य का प्रयोजन एवं लोक का स्वर'

विचार-गोष्ठी का संचालन डॉ. चितरंजन मिश्र ने किया तथा अध्यक्षता की कथाकार डॉ. उषा किरन खान ने। गोष्ठी को आगे बढ़ाते हुए डॉ. चितरंजन मिश्र ने कहा कि पंडित जी की दृष्टि में लोक हमारी चेतना का विस्तार है। लोक वह है जो हमें देखता है और जिसे हम देखते हैं। उसकी अभिव्यक्ति लोक का स्वर है, जो करुणा के रूप में अभिव्यञ्चित होता है। 'लोक', 'दर्शन' का ही पर्याय है। अपना बीज-वक्तव्य देते हुए डॉ. बलराज पाण्डेय ने कहा कि पंडित जी के 'लोक' का अभिप्राय प्रकाशन से है, प्रकाशित करने से है। फारसी में जो रोशन, रोशनी से है, वही हमारे यहाँ लोक, लोचन के अर्थ में है और पंडित जी अपनी बात को ऋग्वेद की ऋचाओं से संदर्भ लेते हैं। वे लोक को सिर्फ मनुष्यों का समूह नहीं मानते। वे पशु-पक्षी, वृक्ष, नदी पर्वत, पर्व-त्योहार, सबको लोक के अन्तर्गत मानते हैं तथा इसके साथ साझेदारी करने को लोक-दृष्टि कहते हैं एवम् लोक में रहकर लोक से ऊपर उठने को अनुप्रेरित करते हैं। पंडित जी का मानना है कि लोक, शास्त्र से भी श्रेष्ठ है। इसीलिए किसी भी व्यवस्था की पूर्णता के लिए लोक, साधु, नृप मत में संतुलन को वे आवश्यक बताते हैं और इसीलिए वे तीन ऐषणाओं में लोकैषणा सर्वाधिक श्रेष्ठ है तथा इसीलिए उसका त्याग सर्वाधिक कठिन भी है, ऐसा मानते हैं। पंडित जी लोक एवम् शास्त्र में सामंजस्य मानते हुए भी लोक को शास्त्र से ऊँचा स्थान प्रदान करते हैं क्योंकि, जो लोक को नहीं जानेगा, वह शास्त्र को नहीं समझ सकता और इसके लिए उसे जुलाहा, ताना-बाना और वस्त्र को जानना जरूरी है। इसीलिए जो जीवन-पद्धति शास्त्र के द्वारा भुला दी जाती है, जहाँ शास्त्र ठहर जाता है, वहाँ लोक शास्त्र को झकझोरता है, उसे कंधे का सहारा देता है।

साहित्य के प्रयोजन के संदर्भ में पंडित जी शास्त्र को भी रसमय बना देना चाहते हैं, उसे शास्त्र जैसा नहीं रहने देना चाहते। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं प्रेमचन्द आदि की चर्चा करते हुए श्री पाण्डेय ने कहा कि पंडित जी के अनुसार साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए कि वह बुरे आदमी में छिपे हुए देवता को उजागर कर लोक के सामने उपस्थित करे। मिश्र जी का कहना है कि साहित्यकार सविता से निवेदन नहीं करता, बल्कि अपने अनुभव के ताप से खुद तापित होकर उस हिरण्मय के ढक्कन को खोलने के लिए विवशकर देता है। उनका कहना है कि साहित्यकार को प्रेम-सम्प्रेषण के लिए प्रेम-पीड़ित होना जरूरी है और इसके लिए वे कादम्बरी के चन्द्रापीड तथा पत्रलेखा का उदाहरण देते हैं। मिश्र जी साहित्य के प्रयोजन को

आज के युग के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखते हैं और कहते हैं कि उसे मूल्यों का खोज करने वाला तो होना ही चाहिए, किन्तु उसे मनुष्य और मनुष्य के मूल्य का होना चाहिए। आज मानवीय रिश्ते वैसे ही सतही दिखते हैं, जैसे क्रीम पाउडर लगे हुए चेहरे दिखाई देते हैं, जिसमें उसकी वास्तविकता छिपी होती है। साहित्य का प्रयोजन अपने युग की भेड़िया धँसानी आस्था के विरुद्ध होना चाहिए। उसे सख्य और बंधुता का विस्तार होना चाहिए, प्रिय के बंधन से बँधना और उस पर अटूट विश्वास रखने से होना चाहिए। साहित्य का प्रयोजन आसुरी प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रेरणा पैदा करना भी होना चाहिए।

स्त्री-विमर्श के संदर्भ में पंडित जी उदाहरण देते हैं- 'आधीरात बबइया नींद न परति है जेहि घर कन्या कुँवारि' तथा 'दोनों कर जोरि मइया सुरुज मनावति शत्रु के धिया जनि देइ' इस क्रम में वे राम का एक उदाहरण देते हैं- 'अइसने पुरुषवा के मुहवाँ न देखब जेहि गर्भ दीन्ह निकार'। इस प्रकार वर्ण्य-विषय में पंडित जी दोनों पक्षों को उठाते हैं। समाज या परम्परा को वे जड़ नहीं मानते, अतः वे परिवर्तन की बात करते हैं।

विषय को रेखांकित करते हुए डॉ. प्रेम प्रकाश पाण्डेय ने कहा कि अमृत तत्त्व प्रदान करने वाली रचना ही साहित्यिक रचना मानी जाती रही है। ऐसी ही रचना कालजयी रचना की संज्ञा प्राप्त करती है। साहित्य का सीधा प्रयोजन या अभिप्राय सदैव यही रहा है कि वह सत्य का आभास कराते हुए उस तक पहुँचाने का प्रयास करे। इस अर्थ में पंडित जी की रचनाएँ कालजयी रचना की श्रेणी में आती हैं। ये रचनाएँ चाहे ललित निबंध को लेकर हों या भारतीय संस्कृति को लेकर हों। यथा नदी, नारी और संस्कृति या लोक और लोक का स्वर आदि। पंडित जी सोहर सहित सभी संस्कारों के गीत सुनना पसंद करते थे, जिनमें प्रमुख था- ''छापक पेड़ छिउलिया'', ''ऊँच नगर अयोध्या'' और ''चिरैया लोचन भरल तोर ठोरे''.....आदि हैं। डॉ. पाण्डेय ने अपनी बात 'लोकानुरागी साहित्यकार पंडित विद्यानिवास मिश्र' शीर्षक आलेख-पाठ के माध्यम से कही। इस अवसर पर उन्होंने चितेरी श्रीमती हेमलता पाण्डेय द्वारा चित्रित पंक्तिपावन लोककलाओं की प्रदर्शनी निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत सभागार की दीवार पर लगायी थी।

(क) चउक पूरन या भूमिचित्र- इसमें चावल के आटे और पानी के घोल से निर्मित अनेक प्रकार की आकृतियाँ प्रदर्शित थीं, यथा- लोक देवता, वेद देवता, पेड़ और लताएँ आदि। चउक के रूप में अठदल, कार्तिक एकादशी, कार्तिक पूर्णिमा, कुशबढाँव आदि। इन्हें आँगन में अइपन से बनाया जाता है।

(ख) लिखनी या भित्ति चित्र- मांगलिक अवसरों, संस्कार अथवा पर्व आदि पर दीवारों पर उकेरे जाने वाले चित्र यथा- कोहबर, पिड़िया, नागपंचमी एवं करवाचौथ आदि। इन्हें भी अइपन से बनाया जाता है।

(ग) जनेऊ कला या यज्ञोपवीत कला- हाथ के कते बारीक सूत से तीन धागों का जनेऊ, जिसमें द्विआयामीय और तृआयामीय आकृतियाँ प्रदर्शित की गयी थीं।

(घ) थोपाकला- इसके अन्तर्गत भोजपत्र तथा साधारण कागज को विभिन्न आकृतियों में काटकर एवम् उनपर सिन्दूर की तह थोपकर (जमाकर) दिखाया गया था, जिनके द्वारा ललाट या कार्यालय आदि का शृंगार किया जाता है।

अगले वक्ता के रूप में उदय प्रताप सिंह, काकोली गोगाई तथा डॉ. विद्याविन्दु सिंह ने भी अपनी बात आलेख के माध्यम से ही श्रोताओं के समक्ष रखने की कोशिश की थी। डॉ. विद्याबिन्दु सिंह ने पंडित जी की लोक-अवधारणा, लोक-व्यवहार और लोक-दृष्टि आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला तथा लोक-विश्वास, लोक-आस्था, लोक-परम्परा आदि को लोक-गीतों के आलोक में अनेक उदाहरणों के माध्यम से उपस्थित किया। उन्होंने पंडित जी के साहित्य के प्रयोजन एवम् लोक के स्वर-विषयक विचारों पर भी अपनी बातें खुलकर कहीं और बताया कि पंडित जी वाचिक कविता को विशेष महत्त्व देते थे। उनके अन्दर लोकधुनों के प्रति भी चिन्ता दिखाई देती है। नदी को वे भारतीय संस्कृति के केन्द्र में मानते थे और लोक-संस्कृति तथा नारी को उसी नदी के रूप में देखते थे। उन्होंने जनश्रुतियों के महत्त्व को भी आलोकित किया है। ये वाचिक परम्परा का स्रोत हैं। वे संस्कार-गीतों, पर्व-गीतों को मनुष्य के निर्माण में सहायक मानते थे। उनका मानना था कि लोक साहित्य का अध्ययन अपनी आन्तरिक रुचियों द्वारा प्रेरित होना चाहिए, बाहरी दबाव द्वारा नहीं। उनके अनुसार न्याय-व्यवस्था में भी लोक-प्रमाण को महत्त्व दिया जाना चाहिए। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण का चरित्र लोकानुरागी है तथा लोक शास्त्र से पृथक् नहीं है अपितु दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।

अध्यक्षीय सम्बोधन में डॉ. उषा किरन खान ने कहा कि रचनाकार ब्रह्मा होता है। उसके चार मुख, चार जोड़ी आँख और कान होते हैं जिसके माध्यम से वह साहित्य की सृष्टि करता है। पंडित जी ने जो कुछ लिखा है, उसे कुछेक गोष्ठियों में समेटना असम्भव है। डॉ. खान ने अनेक लोकगीतों के माध्यम से यह बताने की चेष्टा की कि पंडित जी राम या कृष्ण के कितने निकट, दूर या सीता के कितने पक्ष-विपक्ष में थे। उन्होंने पंडित जी के सख्य, बंधुत्व आदि स्वभावविषयक बातों को भी प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया।

तृतीय सत्र : 'आचार्य विद्यानिवास मिश्र का सृजनात्मक साहित्य'

डॉ. नीरजा माधव के संचालन में संचालित इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल ने की थी। बीज व्याख्यान देते हुए डॉ. वागीश शुक्ल ने सर्जनात्मकता के प्रति भारतीय दृष्टि की शास्त्रीयता पर विस्तार से प्रकाश डाला तथा इस सन्दर्भ में शब्दावली, कोडिफिकेशन एवम् पारिभाषिकता आदि के प्रति भी अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया और कहा कि पंडित जी का ग्राम्य-गीतों के प्रति आकर्षण पूर्ववर्ती रचनाकारों से पृथक् है। उनके निबंधों का आधार लोक-ग्रहण है। जो कुछ भी शास्त्र से लिया, उसमें कहीं कोई खाई नहीं है, जिस पर पुल बनाने की जरूरत हो। उनके लिए दोनों एक हैं। वेद एवम् लोक के संदर्भ में पंडित जी के निबंध-लेखन की गहरी विवेचना करते हुए डॉ. शुक्ल ने बताया कि दोनों के प्रति पंडित जी में कहीं भी द्वैत-भाव नहीं है। दोनों की सर्जनात्मकता में गहरा साम्य रूपायित है। वेदों, पुराणों एवम् लौकिक आख्यानों के रहस्यों को समझने की जो दृष्टि पंडित जी ने हमें दी, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने सम्भाषण के क्रम में डॉ. शुक्ल ने पंडित जी की सर्जनात्मकता को पश्चिमी दृष्टि के आलोक में भी रखकर देखने का प्रयास किया।

डॉ. अरुणिमा दिलजन ने पंडित जी के ग्रंथ ''महाभारत का काव्यार्थ'' पर अपने विचार रखे। विषय को स्पष्ट करने के लिए पंडित जी के ललित निबंधों एवम् अन्यान्य विधाओं को दृष्टांत के रूप में उपस्थित किया गया। संस्कृत एवम् हिन्दी के तमाम पूर्ववर्ती रचनाकारों को उनकी रचनाओं के आलोक में देखते हुए पंडित जी की सर्जनात्मकता और उनके साहित्य के महत्त्व एवम् प्रासंगिकता पर भी प्रकाश डालने

की चेष्टा की। डॉ. दिलजन ने पंडित जी की रचनाओं में निनादित लोक-स्वर को वेदों के प्रकाश में देखते हुए उनके सर्जक मन को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से विभिन्न आयामों, कोणों, संदर्भों में उपस्थित किया।

अध्यक्षीय सम्बोधन में डॉ. कृष्ण दत्त पालीवाल ने कहा कि पंडित जी की सर्जनात्मकता का प्रेरणास्रोत साहित्य एवम् सामाजिक प्रभावों की संगति है। आज के विषय के आलोक में रामस्वरूप चतुर्वेदी, भवानी प्रसाद मिश्र, माखन लाल चतुर्वेदी, अज्ञेय आदि पर चर्चा होनी चाहिए, जो नहीं हुई, क्योंकि वे केवल स्वतंत्रता आंदोलन की सृष्टि नहीं हैं। 'उत्तर गीत गोविंद' पर भी चर्चा होनी चाहिए जो कुरुक्षेत्र से शुरु होता है। राधा को कुरुक्षेत्र में मिलाया गया, क्यों? इस पर चर्चा होनी चाहिए, क्योंकि राधा प्रकृति है और प्रकृति पुरुष को रोकती है एवम् मनुष्य को रुकना पड़ता है।

डॉ. पालीवाल ने कहा कि गद्य भाषा में लिखा जाता है, कविता शब्द में लिखी जाती है, इसीलिए वह ब्रह्म की अक्षरता में अमर हो जाती है। 'कोकिल बोलो तो' की चर्चा के क्रम में डॉ. पालीवाल ने बताया कि शून्य का अर्थ खाली नहीं होता, शून्य का मतलब होता है, इस स्थान को फिर से भरो। उन्होंने आगे कहा कि पंडित जी ने जो राग के छंद लिखे हैं, उनका मन बार-बार अज्ञेय पर जाता है। उन्होंने उन पर होने वाले अंध प्रहारों की प्रतिक्रिया में बहुत कुछ लिखा। उनके 'सन्नाटे का छन्द हूँ' की चर्चा करते हुए डॉ. पालीवाल ने कहा कि आज भाव-अनुभाव के रस-निष्पत्ति, वक्रोक्ति परम्परा एवम् रस-परम्परा आदि पर पुनर्विचार की जरुरत है।

सांस्कृतिक संध्या : पद्मविभूषण उमाशर्मा की प्रस्तुति

प्रख्यात नृत्य-साधिका उमा शर्मा के भावपूर्ण एवम् मनोहारी नृत्य से 'गीत गोविन्द' के पद एक बार फिर से जीवंत हो उठे। कार्यक्रम की पूर्वपीठिका को सम्पादित करते हुए डॉ. अरुणेश नीरन ने कहा कि पंडित जी की दृष्टि में कृष्ण जल से भरे मेघ हैं और राधा उनकी वर्षा। वह मेघ जब वर्षा के रूप में बरसता है तो अस्त्विहीन हो जाता है, किन्तु जमीन को उर्वर बना जाता है। उनके उसी स्वरुप को अपने नृत्य द्वारा उपस्थित करेंगी उमा शर्मा जी। विद्याश्रीन्यास की ओर से डॉ. महेश्वर मिश्र ने सुश्री उमा शर्मा एवम् उनके साथी कलाकारों का पुष्प-पत्र एवम् स्मृति-चिन्ह द्वारा अभिनंदन किया। पं. मिश्र जी एवम् उनके परिवार के साथ अपने आत्मीय सम्बन्धों को प्रकट करते हुए उमा शर्मा इतनी भावुक हो उठीं कि उनकी आँखें अनायास सजल हो गयीं और कंठ अवरुद्ध। उन्होंने कहा कि पंडित जी का उनके जीवन में जगह-जगह, पद-पद पर मार्ग दर्शन मिला है तथा राधा को समर्पित पदों के चुनाव में भी सहायता प्राप्त हुई है। इस क्रम में उन्होंने उनसे कहा था 'उमा! तुम राधामय हो जाओ।' मैं वैसा ही होने की कोशिश करुँगी।

लखनऊ घराने के अपने गुरु शंभु महाराज एवम् जयपुर घराने के अपने गुरु सुंदर प्रसाद का स्मरण करते हुए उमा शर्मा ने स्वामी वल्लभाचार्य के मधुराष्टकम् 'अधरं मधुरं वदनं मधुरं...' की धुन पर जब थिरकना शुरु किया तो समस्त परिवेश नृत्य की चंचल तरंगों पर डोलने लगा। तत्पश्चात् उन्होंने पंडित जी के प्रिय सूर के पद 'पूछत श्याम कौन तू गोरी, कहाँ रहत, काकी तू छोरी' पर नृत्य करके दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर दिया। पं. जी के प्रिय 'गीत गोविन्द' के एक पद 'कुरु यदुनंदन...' सहित, 'राधे कहीं है कित छमियो बृजनाथ, जित अपराध किए मैंने', 'काहे को मेरे घर आये हो', 'मैं तो गिरिधर के रंग

राँची' और अन्त में पुनः वापस 'राधे कही है कित छमियो बृजनाथ, जित अपराध किए मैंने' से मानो इस जादूई नृत्य-प्रस्तुति को संपुट करते हुए विराम दिया। उनके साथ तबले पर मुबारक खान, सितार पर खालिद मुस्तफा, गायन और हारमोनियम पर रमेश परिहार तथा बाँसुरी पर रजत प्रसन्ना ने मनमोहक संगत की थी।

16 जनवरी, 2009

प्रथम सत्र : 'हृदय-संवाद एवं रसबोध'

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय के संचालन में विचार-संगोष्ठी की अध्यक्षता की थी डॉ. रमामूर्ति त्रिपाठी ने एवम् बीज भाषण दिया था डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने पूर्वपीठिका प्रस्तुत करते हुए प्राच्य और पाश्चात्य काव्यशास्त्रों के प्रस्थान-बिन्दुओं के भिन्न कोण स्पष्ट किये। पाश्चात्य काव्यशास्त्र ने जहाँ कवि के पक्ष पर जोर देते हुए अपनी यात्रा प्रारंभ की, वहीं भारतीय ने प्रमाता को प्राथमिकता दी। रस-सिद्धान्त की प्रासंगिकता पर उंगली उठने के कारणों के सूत्र-विन्दु देते हुए उन्होंने आचार्य नारायण द्वारा चमत्कार को रस का सार बताने के साथ उसके प्रकार-भेदों और स्थायी भावादि की अनिवार्यता पर प्राचीन आचार्यों तक के प्रतिषेध को रेखांकित किया। पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों द्वारा कविता और काव्य में अन्तर करने और फिर 'एस्थेटिक्स' शब्द के प्रयोग से उत्पन्न विसंगतियों की ओर ध्यान ले जाते हुए स्पष्ट किया कि भारतीय काव्य-शास्त्र के 'काव्य' और 'काव्यशास्त्र' शब्दों में जो व्याप्ति है, वह ''पोयट्री'' और ''पोयटिक्स'' शब्दों में नहीं है। भरत मुनि के रस-विवेचन के सन्दर्भ में अभिनव गुप्त पादाचार्य ने कहा है ''हृदय-संवाद-संवेद्यो रसः'' अर्थात् हृदयों के संवाद द्वारा जो संवेद्य होता है वह रस है। इसी प्रकार रसों के नौ प्रकारों को समाप्त कर हृदय-संवाद को सर्वाधिक महत्त्व देने का ही मत आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने उपस्थापित किया है। आचार्य मिश्र भवभूति के द्वारा करुण को ही रस मानने के संदर्भ में अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हैं तथा रस-सिद्धान्त को बन्धनमुक्त कर उसे आज के भी युग में उपयोगी सिद्ध करते हैं। आचार्य मिश्र ने रस के ब्रह्मास्वाद-सहोदरत्व पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहा है कि जब किसी प्रमाता ने ब्रह्मानंद का आस्वाद नहीं किया, तो कैसे रस को ''ब्रह्मानंद सहोदर'' कहा जाता है? इसी संदर्भ में भारतीय काव्य-शास्त्र में साधारणीकरण द्वारा ''वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यता'' और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में सह-अस्तित्ववाद के संदर्भ में आचार्य विद्यानिवास मिश्र द्वारा एक अलग कोण रस-बोध के संदर्भ में बनाने का उल्लेख करते हुए इन सभी सन्दर्भों पर भी विचारों के लिए विद्वानों का आवाहन किया।

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने विषय को पुनः स्पष्ट करते हुए कहा कि सहृदय के दो लक्षण हैं- संवेदित होना तथा उसकी तत्परता एवम् उसके समझने की क्षमता होना। किन्तु दुर्भाग्य से आज हमें यह कहना पड़ रहा है कि आधुनिक कवि ने तो नयी कविता में रस को समाप्त ही कर दिया है और विसंगतिपूर्ण बात तो यह है कि वह रस पर चर्चा तक करने को तैयार नहीं हैं। तो क्या आज के युग में रस सिद्धांत को कविता से निकाल दिया जाना चाहिए? रस को स्वीकार न करने में आधुनिक कवियों की विवशता क्या है? क्या आज नया सौन्दर्य शास्त्र रचने की आवश्यकता है? अज्ञेय एवम् मुक्तिबोध सहित तमाम पूर्ववर्ती रचनाकारों के रस-संबंधी विचारों एवम् आधुनिक कविता तथा कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का जिक्र करते हुए डॉ. श्रोत्रिय ने कहा कि आज नये कवियों को ध्यान में रखते हुए काव्यशास्त्र की पुनःसमीक्षा आवश्यक है तथा रसवाद से नयी कविता के मूल्यांकन पर भी पुनर्विचार जरूरी है। डॉ. श्रोत्रिय ने रस के आलोक में

पाश्चात्य एवम् भारत के प्राचीन तथा आधुनिक विचारकों के मतों, सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए रस के स्वरूप, प्रकार, सिद्धान्त, उसके आस्वाद, सौन्दर्यबोध, सौन्दर्यचेतना, सौन्दर्य में समाजीकरण, सौन्दर्यानुभूति के आलोक में काव्य-चेतना, व्यक्तिचेतना, लोकचेतना आदि तथ्यों पर विस्तार से प्रकाश डाला और पुरानी तथा नयी कविता की भावों, रसों एवं सौन्दर्यबोध के संबंध में चर्चा करते हुए कहा कि आधुनिक कविता से रस को विलग करके कदापि नहीं रखा जा सकता। इसके अलावा डॉ. श्रोत्रिय ने भारत के आनंदवाद, आशावाद तथा पाश्चात्य के अस्तित्ववाद को भी कविता के आलोक में उपस्थित करने की कोशिश की और रसानुभूति, सहअनुभूति, समानुभूति, मानसीकरण, साधारणीकरण आदि को भी अपने व्याख्यान का अंग बनाया। अन्त में उन्होंने बहुत स्पष्ट ढंग से कहा कि रस कलाकृति की सफलता का द्योतक है एवम् कवि रचना-प्रक्रिया के समय रसानुभूति से गुजरता है तथा इसके आस्वाद से पाठक भी आस्वादित होता है। अतः रसानुभूति को आस्वाद की दृष्टि से समझा जाय और अतिवाद से दूर रहा जाय तो ज्यादे अच्छा है।

डॉ. गिरीश्वर मिश्र ने कहा कि सृजन का उत्स स्वयं में कमी या रिक्तता के बोध से शुरु होता है। यह आत्म-विस्तार की प्रक्रिया है तथा सहृदय होने के लिए लेखक, कवि एवम् पाठक के एक तल पर जुड़े रहने की आवश्यकता है। हृदय-संवाद कवि के लिए अभीष्ट है ताकि वह दूसरे के हृदय को स्वयं के हृदय से जोड़ सके। ऐसे कवि की रचनाएँ पढ़ते समय ऐसा लगता है मानों पाठक कवि के साथ-साथ चल रहा है।

डॉ. मिश्र ने कहा कि आचार्य विद्यानिवास मिश्र का व्यक्तित्व व्यावहारिक तल पर भी सहृदयता से भरा था जो लोगों को अपने साथ चलने को प्रेरित करता था। उनके द्वारा किए गये अनेकानेक कार्य भी सहृदय होने के प्रतीक हैं। सहृदयता उनके व्यक्तित्व का स्वाभाविक अंग था। उनका हर कर्म सहृदय का कर्म था। जहाँ तक रस की अवधारणा की बात है तो यह मनुष्य ही नहीं, मानवेतर प्राणियों में भी उनके भाव-प्रकाशन के विविध रूपों में व्यक्त होता दिखाई देता है। हाँ, यह अलग बात है कि भाव-प्रकाशन की सबकी अपनी भाव-भंगिमा होती है। भाव-संवेग के लिए कोई भी स्थायी स्वरूप नहीं है। संस्कृतियों के अनुकूल भाव-संवेग परिलक्षित होते हैं।

डॉ. प्रभाकर मिश्र ने दो टूक में अपनी बात रखते हुए पंडित जी के शब्दों में कहा कि 'भावहीन होकर बोलना और लिखना मुझे भूसा ओसाने जैसा लगता है।'' श्री मिश्र ने कहा कि पंडित जी ने बौद्धिकता को ढोना, बुद्धिवाद से पीड़ित होना और दूसरों को पीड़ित करना, कभी पसंद नहीं किया, क्योंकि यह एक हिंसा है, हृदयहीनता का परिचायक है। बुद्धिवाद से हृदय-संवाद कदापि संभव नहीं है। इसके लिए सहृदय होना आवश्यक है। आज के सोंठियाए हुए मन को वसंत, होली, पर्व-त्योहार कोई आनंद नहीं दे पा रहे हैं, जबकि पं. जी प्रकृति सहित, तीज, पर्व, त्योहार, वृक्ष, नदी, जीवन को विविध पक्षों से सीधे जोड़कर संवाद करने की बात करते हैं। पंडित जी कहते हैं कि मुझे बुद्धिवादियों से बड़ा डर लगता है क्योंकि इनके चलते साझेदारी खत्म होती जा रही है और हृदय-संवाद के लिए साझेदारी आवश्यक है। बुद्धिवाद व्यक्ति को सहयात्री नहीं बना सकता। पं. जी का साहित्य व्यक्ति को अवसाद से उठाता है, क्योंकि वे 'मानुष भाव' की बात करते हैं, व्यक्तिवाद की नहीं।

गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए डॉ. अनंत मिश्र ने कहा कि सबसे बड़ा रस जीवन-रस है। कोई न कोई रस है, तभी हम जीना चाहते हैं। विगलित शरीर लिए एक कोढ़ी भी मरना नहीं चाहता।

जीवन एक स्वाद है, स्वाद है तो रस है और इसीलिए जीवन है। जब जीवन कम होता है तो रचनाकार काव्य रच देता है और जीवन रस पाकर पुनर्जीवित हो उठता है। जीवन में सुख की तरह दुःख भी अच्छा लगता है। माँ, बच्चे को जन्म देते समय असह्य दुःख भोगते हुए भी एक असीम सुख की अनुभूति करती है। एक प्रेमी अपनी प्रिया की प्रतीक्षा करता है तो उसे सुखानुभूति होती है। उपनिषद के आलोक में 'रसो-वै-सः' की व्याख्या करते हुए डॉ. मिश्र ने कहा कि परमात्मा को आतंक नहीं मानना चाहिए। वह तो हमारा आत्म-रूप है। हमीं परमात्मा हैं। राधा हैं। कृष्ण हैं। रस को परम्परा और आज की कविता के परिप्रेक्ष्य में मिल-बैठकर विचार किया जाना चाहिए। कृष्ण के विरह में सिर्फ गोपियाँ ही नहीं रोती हैं, सम्पूर्ण प्रकृति रो रही है, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, यमुना सभी आर्त हैं। यहाँ सबकी साझेदारी परिलक्षित है। अतः सबसे बड़ा रस जीवन रस है। राधा भाव, समर्पण का भाव है। पंडित जी ने अनेक प्रसंगों में इंगित किया है कि यह सिर्फ ओढ़नी ओढ़ लेने से नहीं आता। अतः रस को व्यापक भाव में ग्रहण करने, समझने की आवश्यकता है, क्योंकि साहित्य वह भी है, जो परस्पर दो लोग बैठकर बात करते हैं, आपस में हाल-चाल पूछते हैं, केवल रचनाकार की रचना ही नहीं है। जीवन में जब हम दिलचस्पी की बात करते हैं तो वह भी रस ही है। रस जीवन में एक बड़ा मानक बनता है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति क्या है? भाषा किसी व्यक्तिवाद के अन्तर्गत नहीं है, यह समष्टि के प्रयास की देन है। कैवल्य, आत्मसाक्षात्कार सब, इससे बाहर नहीं है। चिन्मय भी इसी मृण्मय में है। रूप, रस, स्पर्श, गंध, सब इसमें समाहित हैं। अतः रस की व्यापकता को जानने के लिए हमें अपने पुरखों, स्मृतियों, अतीत से लेकर वर्तमान तक से संवाद करना होगा। 'रस' किसी मम्मट, अभिनव मात्र से संबंधित नहीं है, रस उनसे पहले भी रहा है। रस शाश्वत है।

डॉ. महेश्वर मिश्र ने निर्धारित विषय को पंडित जी के कृतित्व की ओर मोड़ते हुए कहा कि पंडित जी ने भक्ति को भी रस होने की बात कही है। उन्होंने भागवत अनेक बार पढ़ा, लेकिन लिखा 20 वर्षों बाद और जब लिखा तो 'राधा माधव हो गयी।' डॉ. मिश्र ने अपनी बात कहने के क्रम में पंडित जी द्वारा लिखित 'सूरसागर' सहित तमाम कृतियों एवम् उनके निबंधों आदि का उल्लेख करते हुए कहा कि पंडित जी के सहृदय को समझने के लिए उस परिप्रेक्ष्य को समझना चाहिए, जिसने उन्हें लिखने के लिए प्रेरित किया।

अध्यक्षीय सम्बोधन के क्रम में डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने पंडित जी के एवरेस्ट जैसे ऊँचे व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए कहा कि चिन्तन तभी चिन्तन होता है जब उसके पीछे गहरी दृष्टि होती है। पंडित जी की समस्त निष्पत्तियों के मूल में आगम और तंत्र निहित हैं। उसी के आलोक में उन्होंने रस की बात भी कही है और इसीलिए वे साझेदारी की बात भी करते हैं। हमारे यहाँ सर्वोत्कृष्ट चिन्तन वह माना जाता है जो द्वैत के मूल में अद्वैत भाव है। डॉ. त्रिपाठी ने अद्वैतवाद सम्बन्धी तमाम दार्शनिक मतों का जिक्र करते हुए राधा-कृष्ण के प्रति पंडित जी के दृष्टिकोण को विषय के आलोक में स्पष्ट करने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि पूर्ण को पूर्ण बनकर ही देखा जा सकता है, अखण्ड को खण्ड दृष्टि से देखना सम्भव नहीं है। पंडित जी ने राधा और कृष्ण को पृथक् मानकर नहीं देखा है। डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि परात्पर सत्ता की बहुत बड़ी शक्ति है- राग। इस आनन्दमयी रागिनी शक्ति का आस्वाद सहृदयता के कारण ही होता है। सौन्दर्यबोध से क्षुब्ध होना ही रसबोध है, सहृदयता है। यथा- 'सहजपुनीत मोर मन छोभा।' और, सौन्दर्य-बोध से क्षुब्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि यह शक्ति का स्पन्दन है। शक्ति स्वयं स्पन्दन-स्वरूपा है। राम 'सहजपुनीत' कहते हैं, दूसरी ओर 'मन छोभा' भी कहते हैं, किन्तु संयमित हैं। यही सहृदयता है। पंडित जी ने कहा है कि हृदय संवाद आस्वाद की पृष्ठभूमि है। आस्वाद का भाव बेचैनी का भाव है। रस कुछ और ही तरह का दर्द है।

"आनंद क्या है" पूछने पर मिश्र जी लिखा कि पंडित उनके दर्द को नहीं समझते।

द्वितीय सत्र : 'महाकाव्य-विमर्श'

इस विचार गोष्ठी की अध्यक्षता डॉ. रामदेव शुक्ल ने की और संचालन किया डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी ने।

बीज-व्याख्यान देते हुए डॉ. अनन्त मिश्र ने राम-कथा के अवतरण की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए क्रौञ्चबध की घटना पर विस्तार से प्रकाश डाला और कहा कि प्रकृति पुरुष का युग्म रूप है। बहेलिए ने संसार के रस को भंग किया था। इसलिए उसे दंडित करना जरूरी था। ऋषि ने उसी समाज में प्रतिष्ठा न होने का शाप दिया, क्योंकि अपमान से बड़ा और कोई दण्ड हो भी नहीं सकता। करुणा काव्य का उत्स है। राम की परिकल्पना जीवन का उद्देश्य है। राम सदैव हमारे भीतर जीवित हैं, वह धर्म हैं। उनके मार्ग पर जो भी चलेगा, उसका विरोध होगा। रामायण और महाभारत की कथा निरंतर जीवन में गतिमान है। हम आज भी कविता में, कहानी में, उपन्यास में महाभारत लिख रहे हैं, वैश्वीकरण और बाजारवाद ने हमारे रिश्तों को खोखला कर दिया है, सब कुछ एक वस्तु-सा हो गया है, जीवन को अर्थ की दृष्टि से देखा जाने लगा है। अतः आज रामायण और महाभारत अधिक प्रासंगिक हो गये हैं। डॉ. मिश्र ने कहा कि काव्य पहले है, महाकाव्य बाद में। काव्य के साथ 'महा' विचारणीय है। महापुरुष या संत जो भी हो अन्ततः वह मनुष्य ही है तो प्रश्न है कि वह मनुष्य तुलसी और वाल्मीकि के साथ कितना और कहाँ तक है? अपने समय में रामायण सिर्फ रामायण नहीं है, सबका काव्य है, क्योंकि सबके भीतर वह हर समय जीवित है एवम् उसके और व्यापक होने की आवश्यकता है। पंडित जी अपने संस्मरणों, व्याख्यानों, रचनाओं एवम् सम्पूर्ण प्रकृति की चर्चाओं में मनुष्य को राम, कृष्ण बनाने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं। अतः हमें भी उस जमीन को तैयार करना है जिस पर राम का अवतरण हो सके।

डॉ. प्रेमशीला शुक्ल ने अपने निबंध-पाठ के क्रम में कहा कि शास्त्र और लोक परस्पर विच्छिन्न नहीं होते। लोक में जो प्रचलित है, वह अचानक नहीं आया है तथा जो शास्त्र में आया है, उसे लोक तक पहुँचाने की जरूरत है। पंडित जी ने रामायण, महाभारत के चरित्रों तथा सत्यनारायण कथा तक के भाव को लोक-जीवन से जोड़ा है। डॉ. शुक्ल ने रामायण के काव्यार्थ को संस्पर्शित करते हुए कहा कि राम श्रेष्ठ हैं सिया के कारण। वे सिया के कारण वर हैं। पंडित जी की दृष्टि में सीता विश्वम्भरा की पीड़ा से जन्मी है। ऋषियों के रक्त से उद्भूत सीता की जन्म-कथा को विस्तृत आयाम प्रदान करते हुये उन्होंने यह भी कहा कि राम सीता का परित्याग करते हैं लोक के कारण और सीता पृथ्वी में समाती हैं, तो राम के कारण। क्योंकि वहाँ लोक नहीं है, सिर्फ राम हैं। पृथ्वी से पैदा होने और पृथ्वी में समा जाने तक की यात्रा में सीता अनेक प्रकार के सुख, दुःख, चिन्ता, तनाव से गुजरती हैं, किन्तु उनमें कहीं भी ग्लानि नहीं है। वह सब जगह, सब प्रसंगों में तेजस्विनी रूप में खड़ी दिखायी देती हैं। धनुष उठाकर स्थान को गोबर से लीप देना, रावण को निरुत्तर कर देना, उनकी तेजस्विता का सूचक है। वह कहीं भी स्वयं को दीन-हीन नहीं मानतीं। सीता का अजेय तेज पति के समक्ष भी मलिन नहीं होता, अपितु राम के शील, मर्यादा की रक्षा हेतु वे अग्नि से और भी तप कर बाहर निकलती हैं। यह उनकी तेजस्विता का जाज्वल्यमान रूप है। वह स्वयं उस स्थान को छोड़ देती हैं जहाँ उन्हें संदेह से देखा जाता है। रामजी के प्रति उनके मन में जो प्रेम है, वह अछोर और अथाह

है। परिस्थितिजन्य उद्दीपन के वशीभूत घटने-बढ़ने वाला प्रेम नहीं है। ऐसा नहीं है, कि राम ने उन्हें साथ ले लिया तो बढ़ गया और निर्वासन अथवा परीक्षा की घड़ी में घट गया। वह तो एक शीलनिष्ठ और धर्मनिष्ठ स्त्री का प्रेम है, संयोग-वियोग के प्रभाव से मुक्त अहर्निश जलनेवाली दीपशिखा है। सीता के बिना राम भी अस्तित्वहीन हैं। तभी तो उन्होंने कहा था- **''तत्त्व प्रेम कर मम अरुतोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा।। सो मन रहत सदा तुम पाहीं। जानु प्रीति रस एतनहिं माहीं।।''** इसीलिए पंडित जी कहते हैं कि यह प्रेम का अत्यन्त सघन रूप है। यह अतर्क्य है। राम कठोर होते हैं, सीता के प्रति और सीता भी कठोर होती हैं राम के प्रति परीक्षा-प्रसंग में। क्यों? क्योंकि वह स्वयं का अपमान नहीं था, समग्र नारी-जाति का अपमान था। इसलिए क्रुद्ध होती हैं। पंडित जी सीता के निर्वासन को राम का निर्वासन मानते हैं। उनकी दृष्टि में राम सीता में समाहित हैं, सीता राम में समाहित हैं। डॉ. शुक्ल ने कहा कि पंडित जी की उद्भावना तुलसी, भावभूति, वाल्मीकि एवम् लोक चेतना से होती हुई उतरी है।

डॉ. वागीश शुक्ल ने कहा कि महाकाव्य का प्रस्फुटन ही उसका महाकाव्यत्व है। वाल्मीकि रामायण उस छोटी-सी कथा का विस्तार है जो नारद जी ने सुनायी थी। कोई भी महाकाव्य, अपने आगे भी बहुत सारी संभावनाएँ छोड़ जाता है। हर युग में दुष्ट-दलन हुआ है पर विशिष्ट बात सिर्फ माँ सीता का चरित्र है, जो अन्य अवतारों में नहीं है। डॉ. शुक्ल ने रघुवंश, कुमार सम्भव तथा योगवाशिष्ठ आदि के प्रसंग लेकर अपनी बात स्पष्ट की।

अंत में अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में विषय को समेटते हुए डॉ. रामदेव शुक्ल ने सरविलियम जॉन्स की कविता 'अमरफल' की चर्चा करते हुए आधुनिकता के व्यामोह में आकंठ डूबे वर्तमान युग, साम्राज्यवादी लिप्सा के षड्यंत्र से आहत अपने अतीत तथा देश को अपनी जातीय स्मृति से कट जाने की साजिश के आलोक में पंडित विद्यानिवास मिश्र के व्यक्तित्व और कृतित्व को प्रस्तुत विषय से जोड़ते हुए श्रोताओं के समक्ष उपस्थित किया।

तृतीय सत्र : 'कालिदास एवं संस्कृत काव्य'

इस संगोष्ठी के संयोजक थे डॉ. अनन्त मिश्र तथा अध्यक्षता की थी डॉ. शिव जी उपाध्याय ने। बीज-भाषण देते हुए डॉ. कमलेशदत्त त्रिपाठी ने कहा कि पंडित जी की समस्त यात्रा भारतीय चिन्तन की व्याख्या है, भारतीय कला के आस्वादन, साहित्य के अर्थबोध और हमारी पूरी परम्परा के निहितार्थ की यात्रा है। डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि कुमार संभव का आठवाँ सर्ग कालिदास के कृतित्व का परिपाक है, भले ही यह कहानियाँ कही जाती हों कि उसके कारण उन्हें असाध्य रोग हो गया था। परन्तु पंडित जी कहते हैं कि आठवें सर्ग में उनकी कविता अपने पूर्ण ऐश्वर्य में, अपनी पूर्णता में मूर्त होती है। यह आठवाँ सर्ग देवशक्ति के उद्धरण की भूमिका है। दूसरे निबंध में वे कुमार संभव को विवाह के धूमधाम, आनंद का काव्य मानते हैं, जहाँ संध्या की कालिमा है, फिर उसमें चाँदनी का पत्तियों से छन-छन कर उतरना मानों शिव की और पार्वती की शैय्या का सौन्दर्य है, जिस पर कुमार का अवतरण होने वाला है। पंडित जी कालिदास की समस्त चेतना के मूलस्वर को चाहे वे नाटक हों, कविता हो, नयी व्याख्या देते हैं, नयी दृष्टि देते हैं। संस्कृत-काव्यों में प्रयुक्त छन्दों सम्बन्धी मीमांसा पूर्ववर्ती संस्कृत के आचार्यों द्वारा दी जाती है, किन्तु संस्कृत-काव्य किस मोड़ से नयी राह तलाश करता है, नये पथ पर अग्रसर होता है, इसे सिर्फ पंडित जी समझते हैं और

अपने व्याख्यानों, निबंधों में इसे रूपायित करते हैं। वे मंडन-निरपेक्ष सौन्दर्य, सहज सौन्दर्य की बात-कालिदास के काव्य-की व्याख्या के प्रसंग में करते हैं तथा तपस की अवधारणा को रूपायित करते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं। इस प्रकार डॉ. त्रिपाठी ने पंडित जी द्वारा कालिदास के मर्म पर लिखे तीन आलेखों की चर्चा करते हुए, जिसकी विस्तृत चर्चा आचार्य शुक्ल ने की है, उनकी दृष्टि सहित, पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को भी समेटते हुए, कालिदास के प्रति पंडित जी की दृष्टि में कालिदास की शिव-दृष्टि, शाप और शपथ की मूल धातु एक ही है, अर्थात् शाप स्वयं में केवल अभिशाप नहीं है, वह वरदान भी है। उनकी पैनी दृष्टि मात्र संस्कृत-काव्यों पर ही नहीं पड़ी, अपितु संस्कृत-नाटक भी उससे अछूते नहीं हैं।

विशिष्ट वक्ता के रूप में श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए डॉ. रमेश चन्द्र द्विवेदी ने कहा कि पंडित जी पाणिनि के चलते-फिरते शब्दकोश थे। वे संस्कृत भाषा, व्याकरण के ही नहीं, पाली और प्राकृत के भी प्रकाण्ड विद्वान थे। द्विवेदी-युग के बाद भाषा, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में पंडित जी अग्रणी थे। उनकी कृतियाँ इसका प्रमाण हैं।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने पंडित जी द्वारा कालिदास को रेखांकित करते हुए लिखी गयी पुस्तकों की चर्चा की जिनमें पंडित जी ने कालिदास से उनका कुशल-क्षेम पूछा है और कहा कि पंडित जी ने कालिदास की कृतियों में उनका मूल स्वर, मूल दृष्टि उनकी काव्य-चेतना को ढूँढ़ने और उसे तत्कालीन भारत के प्रसंग में रखने की चेष्टा की है। डॉ. पाण्डेय ने संस्कृत की उल्लेखनीय गाथाओं, स्फुट कविताओं का जिक्र करते हुए महाकाव्य के प्रसंग में कालिदास को समझाने का प्रयास किया तथा 'अव्यय भाव' की व्याख्या के आलोक में पंडित जी के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया और कहा कि इस 'अव्यय भाव' में जो केन्द्रीय तत्त्व है, वह कृष्ण है। इस प्रकार डॉ. पाण्डेय ने संस्कृत काव्यों, रामायण तथा महाभारत आदि के प्रति पंडित जी की दृष्टि को स्पष्ट करते हुए उनके ऊपर लगाए जाने वाले आरोपों का भी खंडन किया।

डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र ने कहा कि पंडित जी ने कालिदास के काव्य के निहितार्थ को मानवीय प्रवृत्ति के आलोक में उपस्थित कर, उसे प्रासंगिकता प्रदान की है। डॉ. मिश्र ने राजा दिलीप के चरित्र और रघु के गुरुदक्षिणा-प्रसंग तथा उनमें निहित काव्य-चमत्कार को पंडित जी की आँखों से देखने की चेष्टा की एवम् कालिदास की विश्व स्वीकृत, विश्ववंद्य उपमाओं को भी पंडित जी के शब्दों में उपस्थित करने का प्रयास किया। उन्होंने यह भी कहा कि ''कुमारसम्भव'' में उद्धृत, लोक में सहज रूप से प्रचलित श्लोकों की सर्वथा मौलिक व्याख्या करते हुए तथा उसे सर्वत्र 'मानुष-भाव' के रूप में उपस्थित कर पंडित जी सबको चमत्कृत कर देते थे।

डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी स्वयं द्वारा सम्पादित कालिदास ग्रंथावलियों एवम् उनके प्रकाशन संबंधित विसंगतियों की विस्तृत चर्चा की और उनके प्रचार-प्रसार की आवश्यकता को रेखांकित किया।

डॉ. कुटुम्ब शास्त्री ने पंडित जी के व्यक्तित्व-कृतित्व, विशेषकर उनके औदार्य, वात्सल्य, स्नेह-भावना, सरलता, सहजता, मानवीयता, व्यावहारिकता आदि गुणों पर प्रकाश डाला तथा भारतीय संस्कृति और चिन्तन के आलोक में कालिदास के प्रति पंडित जी की दृष्टि और अवदानों को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने यह भी कहा कि पंडित जी ने कालिदास के तमाम लोक प्रचलित श्लोकों तथा उनके काव्यों के पात्रों की युगानुकूल व्याख्या कर, उन्हें प्रासंगिक बना दिया है।

अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए डॉ. शिवजी उपाध्याय ने पूर्व वक्ताओं की बातों को रेखांकित करते हुए, स्वयं के प्रति पंडित विद्यानिवास मिश्र के स्नेहभाव की चर्चा की तथा कालिदास को केन्द्र में रखकर बेढब बनारसी द्वारा लिखी हास्य-कविता की प्रसंगानुकूल व्याख्या करते हुए कहा कि बेढब ने कालिदास को 'जादूगर' कहा है, जो सर्वथा उचित है, क्योंकि कालिदास आज भी अपनी जादूगरी से सबको चमत्कृत कर रहे हैं और उसके चमत्कारों का प्रकाश विश्व-क्षितिज पर व्याप्त है। कालिदास आज तक अकेले हैं, जिनके समक्ष अभी भी कोई कवि खड़ा नहीं हो पा रहा है। कालिदास के पूर्व वाल्मीकि हैं, व्यास हैं, किन्तु आचार्यों ने कालिदास को मानव कवि कहकर उनकी स्तुति की है। वास्तव में, व्यास आदि देव उत्स के कवि हैं, केवल कालिदास मानव कवि हैं। डॉ. उपाध्याय ने कालिदास के नाटकों, पात्रों, काव्य-चमत्कारों, उसमें व्याप्त रीति या श्रृंगार-भाव आदि पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कहा कि उनकी कविता की सरलता और सहजता ही उन्हें महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। उन्होंने कालिदास की उपमाओं की चर्चा करते हुए कालिदास के साहित्य की अब तक, की गयी समीक्षाओं का तुलनात्मक विवेचन भी किया तथा अन्त में महाभारत का उल्लेख करते हुए पंडित जी की अन्वेषणात्मक दृष्टि प्रशंसा करते हुए उनके 'अव्ययभाव' की समय-सापेक्ष व्याख्या की और कहा कि आत्मतत्त्व अव्ययभाव है, परमात्मतत्व सर्वोत्कृष्ट अव्ययभाव है तथा इसके बिना किसी श्रेष्ठ काव्य का प्रणयन सम्भव नहीं है। यह आधार भी है और आधेय भी। और, यह कालिदास में भी है। 'ब्रह्मानंदसहोदर' वस्तुतः अव्ययभाव ही है। महाभारत का प्रधानरस शान्त रस है, क्योंकि जितना क्षयभाव है, व्ययभाव है, सब महाभारत में नष्ट हो गया और अव्ययभाव ही अन्ततः शान्त रस के रूप में शेष रह गया है। अव्ययभाव ही महाभारत का प्रतिपाद्य है, मूल तत्त्व है, यह पंडित जी की व्यापक दृष्टि है। डॉ. उपाध्याय ने कहा कि पंडित जी को परम्परा और प्रगति के मध्य परम्परावादी कहा जाता रहा है, जो कदापि न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उन्होंने परम्परा को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने और स्वीकारने का सुझाव दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा-सम्बन्धी अवधारणा की चर्चा करते हुए डॉ. उपाध्याय ने कहा कि हर व्यक्ति की चाल में परम्परा और प्रगति दोनों है। स्थिति परम्परा है, गति प्रगति है अर्थात् एक पाँव जो ठहरा है, स्थित है, वह परम्परा है, जो दूसरे पाँव को गति दे रहा है, उसे प्रगति की ओर गति करने हेतु प्रेरित कर रहा है। अतः परम्परा को गाली देना उचित नहीं है। परम्परा हमारा दाय है।

सांस्कृतिक संध्या : कबीर वाणी एवं बिहू व मणिपुरी नृत्य

कबीर वाणी एवम् धर्मोपदेश उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद के कलाकारों द्वारा मालवी शैली में तथा हरिप्रियसारि देवी थोकचोम एवम् काकोली गोगोई द्वारा 'मणिपुरी' और 'बिहू' लोकनृत्य प्रस्तुत किये गये।

17 जनवरी, 2009

प्रथम सत्र : 'भारतीय परम्परा और आधुनिक दृष्टि'

इस गोष्ठी के अध्यक्ष थे डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी एवम् संचालन किया डॉ. शशिकला पाण्डेय ने।

विषय के आलोक में अपनी बात रखते हुए डॉ. वागीश शुक्ल ने बाइबिल के ओल्ड एवम् न्यू टेस्टामेंटों तथा संस्कृत के प्रक्षिप्त श्लोकों एवम् पाठ के प्रति भारतीय एवम् पाश्चात्य दृष्टिकोण की

तुलनात्मक व्याख्या करते हुए भारत की स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि की संस्तुति की। भारतीय चिन्तन में व्याप्त आर्यों, बौद्धों, द्रविड़ों आदि तमाम प्रकार के मिथकों एवम् वैचारिक टकरावों की चर्चा करते हुए डॉ. शुक्ल ने भारतीय चिंतन में तर्क की प्रधानता को रेखांकित किया तथा कहा कि हमारे यहाँ 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' भी कहा गया है। हमने युग और समाज के संदर्भ में समय-समय पर तर्क द्वारा कुछ चीजों को निषिद्ध तथा अत्युन्नत को स्वीकार किया है आवश्यकतानुसार परम्परा में परिवर्तन हमारे यहाँ सदैव स्वीकृत रहा है और हमने यह परिवर्तन आधुनिकता के कारण नहीं स्वीकारा है, अपनी वैज्ञानिक दृष्टि के कारण स्वाभाविक रूप से, सहज ही ऐसा होता रहा है।

डॉ. कमलेश दत्त त्रिपाठी ने पंडित जी द्वारा आधुनिकता और परम्परा पर लिखे गये आलेखों, विशेषकर इन्साइक्लोपीडिया में जो कुछ लिखा गया है, पर विशेष प्रकाश डालते हुए उनके द्वारा अंग्रेजी में परम्परा के प्रति तीन प्रयुक्त शब्दों- परम्परा, सम्प्रदाय एवं आम्नाय, की प्रसंगानुकूल व्याख्या की और कहा कि परम्परा 'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ति' अर्थात् एक प्रकार से क्रमिकता है, अनुशीलता है तथा आम्नाय अनुपूर्वी है- आम्नाय सिद्धिः किम् कुर्मः? एवम् सम्प्रदाय अर्थात् ''सम्यक् रूपेण प्राप्तः दायः' अर्थात पीछे के दाय को लेकर आगे बढ़ना, ऐसा दाय जो संग्रहणीय है, उसे स्वीकार कर आगे गति करना, सम्प्रदाय है। निगम एवम् आगम की चर्चा करते हुए डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि जो निगमन करता है अर्थात् प्रभुसम्मत को करने को आदेशित करता है, वह निगम है। आगम अर्थात् जो चेतना है, वह स्वयं को द्विविधाग्रस्त कर देती है, जो स्वयं ही प्रश्न खड़ा करती है, अर्थात् विमर्श के अर्थ में जो स्वयं उद्भावन है, स्वयं प्राप्ति भी है। तर्क योगांत के रूप में जो हमारी परम्परा के अन्तर्गत सबमें संस्थापित है, पंडित जी ने इस परम्परा को नित नूतन करने की कोशिश की है।

डॉ. रामदेव शुक्ल ने कहा कि हिन्दी के बड़े मंचों से पंडित जी को परम्परावादी कहा जाता रहा है। प्रकारान्तर से वस्तुतः उन्हें रूढ़िवादी कहते रहे हैं। किन्तु परम्परा रूढ़ि नहीं है रूढ़ि एक स्थान पर जड़ हो जाना है जिससे मुक्ति सम्भव नहीं, किन्तु परम्परा गत्यात्मक है। डॉ. शुक्ल ने परम्परा को और अधिक स्पष्ट करने के लिए 'गंगा' नदी एवम् 'अक्षयवट' वृक्ष को प्रतीक रूप में उपस्थित करने की कोशिश की तथा हाली के द्वारा लिखित 'इस्लाम का विजय रथ' के आलोक में भारतीय परम्परा की श्रेष्ठता और वैज्ञानिकता को प्रतिष्ठापित किया। डॉ. शुक्ल ने कहा कि हमारे यहाँ जाति का निर्णय लोगों पर नैतिक रूप से अंकुश रखता था, जिसने धर्म परिवर्तन होने से लोगों को रोका। भय से लोग धर्म-परिवर्तन करने से बचते रहे। हमारे यहाँ 'संयुक्त-परिवार' व्यवस्था के कारण ही माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची इत्यादि रिश्ते हैं, जबकि पश्चिम में सारी व्यवस्था व्यक्तिवादी है, जिसमें दूसरों के लिए कहीं अवकाश नहीं है। हमारी परम्परा की कसौटी 'स्व' की कीमत पर 'सर्व' की चिन्ता रही है। पंडित जी परम्परा को सदैव लोकमंगल की दृष्टि से देखते रहे हैं और भारतीय जीवन-दृष्टि तथा मूल्यादर्शों को व्यावहारिक तल पर जीते थे। महाभारत के राजसूय यज्ञ के नेवले की कथा, जो पंडित जी को विशेष पसंद थी, का उल्लेख करते हुए डॉ. शुक्ल ने कहा कि पंडित जी की दृष्टि में आत्मसुख का दान, सबसे बड़ा दान है, जिसका उन्होंने आजीवन निर्वाह किया।

अतिथि वक्ता डॉ. मुरली मनोहर जोशी ने अपने तथा मिश्र जी एवम् पंडित क्षेत्रेशचन्द्र चटोपाध्याय के अन्तरंग सम्बन्धों एवम् उनसे जुड़ी बातों का जिक्र करते हुए कहा कि परम्परा एवम् आधुनिकता को पश्चिमी नजर से देखा जाना हितकर नहीं है क्योंकि वहाँ विज्ञान के क्षेत्र में गोरखधंधा जारी है। पश्चिम के आविष्कारों ने बाइबिल की अनेक मान्यताओं को ध्वस्त कर दिया, विशेषकर सृष्टि के प्रारम्भ

और निर्माण, मानव-उत्पत्ति आदि की अवधारणाओं को पूर्णतः खारिज कर दिया और इसका बहुत बुरा परिणाम हुआ जिसके कारण बहुतों को जिन्दा जला दिया गया, कितनों को सिद्धांत बदलने पड़े, कितनों को स्वदेश छोड़कर भागना पड़ा और ये सारी बातें वहाँ की बाइबिल को लेकर हुईं। तो आखिर कौन दृष्टि सही मानी जानी चाहिए- पाश्चात्य या भारतीय दृष्टि? देश की अर्थव्यवस्था, कृषि-व्यवस्था, चिकित्सा-व्यवस्था, सबको हमने पश्चिमी नजरिए से देखा, क्यों? क्या जरुरत थी? चेचक के टीके की व्यवस्था हमारे यहाँ 300 वर्षों पूर्व की थी, अंग्रेजों के समय में भी थी, अब जरा सूई अच्छी हो गयी है, यही फर्क है। किन्तु हमने जीवन को समग्र रूप में, एकात्म रूप में देखा है कर्मकाण्ड, दर्शन, चिकित्सा सभी आयामों में। जीवन क्या है? जीवन स्वयं परम्परा ही तो है। सृजन का मूल तत्त्व तो बराबर है, शाश्वत है- 'एकोऽहं बहु स्याम्'। एक सेल से अनेक सेल विकसित होते हैं। एक की ही अनेक रूपों में अभिव्यक्ति हुई है। फर्क कहाँ है? कपड़े बदल लेने से व्यक्ति नहीं बदल जाता। जब मैं गाँव में हूँ तो परम्परा में हूँ और गाँव से बाहर भारत और विश्व से जुड़ा हूँ तो क्या गाँव को छोड़ देना उचित है। चलने के लिए एक पाँव जमीन पर जड़ा हुआ होना चाहिए, दूसरा आसमान में उठाते हुए आगे बढ़ना चाहिए। जमीन पर पाँव न रहे और उठ जाए तो हम गिर जाएँगे, गति नहीं होगी। जमीन का पाँव परम्परा है। पश्चिम की दृष्टि यह कहती है कि वह हमारा दुश्मन है, उससे दूर रहो, हम कहते हैं कि तुममें 'मैं' ही हूँ। हमारी परम्परा में मार्ग में फर्क है, मंजिल में नहीं। मैं कौन हूँ? हमने पूछा है स्वयं से। वहाँ अब पूछा जाने लगा है, वही पुराना प्रश्न जो भारत का रहा है। वहाँ आज भी केवल उलझने हैं, हमारे यहाँ समाधान है, जिसे हमने बहुत पहले कर लिया था। हमसे आधुनिकतम और कौन हो सकता है? हमारी परम्परा निरंतर प्रवहमान है, उनकी जड़ीभूत। हमारी परम्परा विश्व की त्राणदायिनी परम्परा है, जिसकी पंडित जी सदा वकालत करते रहे हैं। अतः साहित्यकारों का कर्तव्य है कि वे इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखें।

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनी बात रखते हुए कहा कि पंडित जी परम्परा के मूल को भी समझते थे और उसके असीम क्षितिज को भी। अज्ञेय जी यद्यपि पुरानी विचारधारा से पृथक् होकर उस समय के नूतन कवि थे, किन्तु पंडित जी ने अज्ञेय पर किताब लिखी। क्यों? क्योंकि उनसे अन्तरंग सम्बन्ध थे। पंडित जी परम्परवादी लोगों के मध्य एवम् नये लोगों के मध्य भी उसी प्रकार के विचार रखते थे और व्यावहारिक तल पर उठते-बैठते भी थे। परम्परा तो वस्तुतः अन्तरंग चीज है। दुर्भाग्य से हमने रूढ़ि को परम्परा मान लिया है, यही विडम्बना है। हम आज वैसे नहीं हैं, जैसे 1930 में थे। हमने अपने विकास में बहुत बदलाव किया है। बुराइयाँ दोनों में हो सकती हैं- परम्परा में भी और आधुनिकता में भी। किन्तु अच्छी बातों के लिए एक समझदार व्यक्ति दोनों का दोहन करता है। हमें अस्तित्व की रक्षा हेतु परम्परा से जुड़े रहना है और विकास के लिए आधुनिक भी बना रहना है। हमारी परम्परा सामंजस्यमयी है। हमारे यहाँ 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' कहा गया है। अतः त्याग एवम् ग्रहण, दोनों में विवेक होना चाहिए।

डॉ. विद्याविन्दु सिंह ने अपने आलेख में कहा कि पंडित जी के लिए परम्परा आधुनिकता-विरोधी नहीं थी किन्तु मूल्यों की चिन्ता उन्हें सदैव बनी रही। उनके लिए सम्पूर्ण जीवन एक इकाई रहा है, जड़-चेतन, सब परस्पर संयुक्त हैं, एक हैं। परम्परा से गुजरे बिना आधुनिकता तक नहीं पहुँचा जा सकता। जिसको जानेंगे नहीं, उसका निषेध कैसे करेंगे? उनका साहित्य लोक-मंगल-केन्द्रित है। उनकी दृष्टि में हमारी परम्परा शाश्वत मूल्यों पर आधारित है, जो कभी बदलते नहीं हैं।

डॉ. गिरीश्वर मिश्र ने कहा कि पंडित जी परम्परा और आधुनिकता के सह अस्तित्व थे।

वस्तुतः आधुनिकता परम्परा का पुनर्विचार है। पंडित जी ने दोनों के मध्य विरोध के खण्डन का प्रयास किया है। उन्होंने परम्परा को आधुनिक दृष्टि से देखने की कोशिश की है। परम्परा एक प्रवाह है, जिसमें निरंतर बदलाव, समाहार होता रहता है, पंडित जी के सारे लेखों में परम्परा को सामयिक प्रसंगों में देखने और विश्लेषण की प्रबल चेष्टा है। परम्परा में देश-काल, भूगोल की अवधारणा को उन्होंने नयी दृष्टि से देखा है, जिसमें उनका इतिहास-बोध भी परिलक्षित है।

द्वितीय सत्र : 'डॉ. विद्यानिवास मिश्र : पत्रकारिता के आयाम'

डॉ. राममोहन पाठक द्वारा संचालित इस सत्र के अध्यक्ष थे श्री अच्युतानन्द मिश्र। डॉ. पाठक ने कहा कि पंडित जी का मूल स्वर सम्वादी था। वह जड़ चेतन से सम्वाद करते थे। उन्होंने पत्रकारिता में नयी पौध खड़ी की। साहित्य और पत्रकारिता के अन्तर्सम्बन्ध को स्थापित करने का प्रयास किया। डॉ. पाठक के आवाहन पर बीज-भाषण देते हुए डॉ. कुमुद शर्मा ने कहा कि साहित्य की तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में भी पंडित जी अपनी अलग पहचान के साथ खड़े थे। पंडित जी ने अपनी शर्तें एवम् अपनी पसंद की टीम के साथ पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उन्होंने पत्रकारिता के मौजूदा दौर में पत्रकारिता के अपने गुरुओं की विरासत को स्थापित किया। पत्रकारिता के अवमूल्यन को रोकने के लिए बाजारवाद से अलग, अपनी नयी राह बनायी। बाबरी मस्जिद के ध्वस्त होने पर, उन्होंने देश-विदेश में तोड़े गये अनेक मंदिरों, कश्मीर में ध्वस्त किये गये मंदिरों, वहाँ के पंडितों के दर्द को बेबाकी से उठाया और तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का मुखर विरोध किया। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता पर सम्पादकीय लिखा तथा पत्रकारों, सम्पादकों के तमाम विरोधों का डटकर सामना किया और विजयी रहे। तत्कालीन सम्पादकों ने अपने मालिकों एवम् बाजार के सामने घुटने टेक दिए थे, किन्तु पंडित जी कभी झुके नहीं। अपनी संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि के प्रदूषण के विरुद्ध भी खड़े हुए। राजनीतिज्ञों के समक्ष न तो वे अवनत हुए और न उनका झंडा उठाना स्वीकार किया। उन्होंने इस क्षेत्र में व्याप्त अंधकार में बड़े संयम और आत्मविश्वासपूर्वक 'नवभारत टाइम्स' को एक प्रकाश की तरह उपस्थित किया। पुनः वे 'साहित्यअमृत' से जुड़े। वे साहित्यिक पूर्वजों का सम्मान करते थे, नये का प्रेम और उदारता से स्वागत करते थे। वे साहित्य को व्यक्ति की दृष्टि से नहीं, लोक-मंगल की दृष्टि से देखते थे। पत्र में क्या देना, क्या नहीं देना है, यह दृष्टि उनके पास थी। किसी वस्तु को स्वस्थ दृष्टि से देखना, सूत्रवत् बातें करना, उदारता और मेहमाननवाजी उनके विशेष गुण थे। अनेक वामपंथी अपनी खास समस्याएँ लेकर कंबल ओढ़कर उनके पास आते थे। वे पत्रकारिता को विवाद में नहीं पड़ने देना चाहते थे। वे जानते थे कि पत्रकारिता का दायित्व लोगों में सृजन जागृत करना होता है। उन्होंने लोक-कॉलम भी शुरु किया। वे नये सिरे से मूल्यों की सम्भावना को विस्तार देना चाहते थे तथा व्यक्ति को नहीं बल्कि समस्त राष्ट्र को जागृत करना चाहते थे तथा भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था के भाव से देखते थे।

डॉ. ब्रजेन्द्र त्रिपाठी ने कहा कि पंडित जी के लिए शास्त्र और लोक अलग-अलग नहीं थे। इसलिए शास्त्र के साथ लोकाचारों की भी चर्चा करते थे। अपने लेखों में वे ऐसे ही गँवई मन की बात करते रहे हैं। प्राकृतिक आपदाओं में लोगों की पीड़ा को दूर करने के लिए वे समाज और सरकार, दोनों को अनुप्रेरित करते थे। वे गणेश शंकर विद्यार्थी, कृष्णचन्द्र शर्मा नवीन आदि की परम्परा के पत्रकार थे। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ भी ललित निबंध की तरह होती थीं। विवेकजन्य सम्पादन, निर्वैयक्तिक कला, निर्भयता आदि गुण उनमें कूट-कूट कर भरे थे, जो सम्पादक के लिए जरुरी होते है। नवोदित प्रतिभाओं को पहचानना एवम् उन्हें

आगे लाना, उनके स्वभाव में था। उनके लिये सम्पादकों की निजता में मालिकों या राजनयिकों का दबाव कोई अर्थ नहीं रखता था। सम्पादक स्वतंत्र होता था। आज ऐसा नहीं है और, आज तो अखबार और विज्ञापन में कोई फर्क नहीं रह गया है, साहित्य हाशिए पर चला गया है और बाजार हावी है। पंडित जी पश्चिम से आयातित प्रदूषणों के प्रति सजग थे, और साथ ही, अपने संपादन काल में उन्होंने नयी-पुरानी, दोनों पीढ़ियों को जोड़कर रखा। 'नवभारत टाइम्स' को नयी ऊँचाई दी, नया क्षितिज दिया। एक समय था जब लोग अखबार से भाषा सीखते थे, अब भाषा बिगाड़ रहे हैं। पंडित जी इस समस्या के प्रति भी सजग थे।

डॉ. अरुणेश नीरन ने कहा कि पंडित जी पत्रकारिता के स्वभाव और मिजाज को जानते-पहचानते थे। पहले समाचार के साथ विचार था। आज विचार विदा हो गया है। शब्द दृश्य के साथ बदलते जा रहे हैं। जब दृश्य शब्द के साथ बदलते हैं तो साहित्य का जन्म होता है। आज पत्रकारिता एक तकनीक हो गयी है- विचारहीन पत्रकारिता। पंडित जी को जो रस मिलता था, वह लोक से मिलता था। जिसमें चर-अचर सभी समाविष्ट थे। आज का समाज वर्णमाला से अलग होता हुआ समाज है और शब्द अपना अर्थ खोते जा रहे हैं। आनेवाले समय में शब्द दृश्य बन जाएँगे। पंडित जी अपनी दृष्टि से इसे देखते हैं। उनके सम्पादकीय के विषय जड़-चेतन, पर्व-उत्सव, नदी-पहाड़, इतिहास, इनका दर्शन, सब होते। यह लोक-दृष्टि विचार और परम्परा से जुड़ती है। आज की पत्रकारिता सूचना और तथ्य से जुड़ी है। पंडित जी कहते थे जबसे मनुष्य हुआ है, तभी से पत्रकार रहे हैं। सिर्फ उसका रूप बदला है। गाँव का नाऊ, उनका पत्रकार होता था। गाँव का जमींदार होता था क्षेत्रीय पत्रकार, छोटे स्तर का, बड़े नगर का जमींदार राष्ट्रीय पत्रकार होता था।

राघवेन्द्र दुबे ने पत्रकारिता को इतिहास का पहला रफ ड्राफ्ट बताया तथा कहा कि पारस्परिक संवाद एवम् जनतंत्र पत्रकारिता का मूल होता है। पंडित जी पत्रकारिता के आदर्श थे और हमारे लिए सदैव अनुकरणीय रहेंगे।

अध्यक्षीय सम्भाषण देते हुए डॉ. अच्युतानन्द मिश्र ने कहा कि पंडित जी का सम्पूर्ण लेखन, चाहे वह व्याख्यान के रूप में हो या लेखन के, वह अधिकांशतः समाचारपत्रों, पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही सामने आया है। 'छितवन की छाँह' भी मूल रूप में पत्र में धारावाहिक रूप से छपकर ही सामने आयी थी। उनकी सारी बातें पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही प्रत्यक्ष हुई हैं। नियमित स्तम्भ लिखने वालों को छोड़ दिया जाए तो पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपनी बातें कहनेवाले सबसे अधिक पंडित जी रहे हैं। हम इसे पत्रकारिता का ही एक रूप मानते हैं। पंडित जी मूलतः साहित्यिक व्यक्ति थे और पत्रकारिता को उन्होंने आपद्धर्म के रूप में देखा था।

डॉ. अच्युतानंद जी ने आगे कहा कि पंडित जी ने बाबरी मस्जिद वाले प्रसंग में जिस सफाई से अपनी बात रखी, उतनी सफाई से उन लोगों ने नहीं रखी, जिन्होंने उसका राजनीतिक लाभ उठाया। जब उनसे पूछा गया कि बाबरी मस्जिद गिरने से इस देश के हिन्दुओं को शर्म क्यों नहीं आयी? तो पंडित जी ने कहा कि इस देश के विभाजन पर इस देश के मुसलमानों को शर्म आयी थी क्या? तो फिर विवादित ढाँचा गिर जाने से हिन्दूओं को शर्म आने का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि यह अभी तय नहीं है कि ढाँचा मन्दिर है या मस्जिद।

डॉ. मिश्र ने कहा कि एक बार मालिकों ने 'नवभारत टाइम्स' में कुछ परिवर्तन करना

चाहा था ताकि वह 'पंजाब केसरी' का सामना कर सके। इसके लिए उन्होंने पंडितजी से उन सामग्रियों को 'नवभारत टाइम्स' में भी डालने की बात कही जो 'पंजाब केसरी' में थीं, तो पंडित जी ने कॉफी मँगवायी और फिर पूछा कि आप लोगों में से कितने लोग 'नवभारत टाइम्स' पढ़ते हैं और कितने हैं जो 'पंजाब केसरी' पढ़ते हैं? पंडित जी ने कहा कि जिन लोगों को इन दोनों पत्रों में फर्क नजर नहीं आता, वे कॉफी पीएँ और चले जाएँ, जब हम नहीं रहेंगे तो आप 'नवभारत टाइम्स' को 'पंजाब केसरी' बना दीजिएगा और यही बात उन्होंने 'टाप मैनेजमेंट' के सामने कही। उन्होंने यह भी कहा था कि मैं सम्पादक के पद पर अपने कार्यकाल के एक दिन बाद भी नहीं रुकूँगा, किन्तु एक दिन पहले भी नहीं छोड़ूँगा। पंडित जी का व्यक्तित्व इस प्रकार का था, जबकि वे जानते थे कि अज्ञेय जी को इन्हीं कारणों से पत्र छोड़कर जाना पड़ा था। दो वर्षों में पंडित जी ने 'नवभारत टाइम्स' में 300 सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखी हैं, वे भी ऐसी, जिनकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। उन्हें सामने लाने की आवश्यकता है। संपादकीय टिप्पणियों के सम्बन्ध में वे कहा करते थे कि 'उन्हें चीरकर रखदेने वाली भाषा में होना चाहिए'। उनकी पत्रकारिता का योगदान आँकड़ों की दृष्टि से भले कम हो, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से बहुत अधिक है।

तृतीय सत्र : 'मध्यकालीन काव्य बोध'

इस संगोष्ठी के अध्यक्ष थे- डॉ. गोविन्द रजनीश एवम् संचालन किया था डॉ. विश्वनाथ प्रसाद ने। आलेख के माध्यम से बीज-भाषण देते हुए डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी ने कहा कि पंडित जी ने लगभग सारे मध्यकालीन कवियों पर लिखा है, जिसे पढ़कर उनकी मौलिक दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। पंडित जी की 'लागों रंग हरी' एवम् 'बूँद मिली सागर से' की चर्चा करते हुए कहा कि इसमें विभोरता और अद्भुत रसबोध है। ऐसा लगता है मानों पंडित जी भक्तिबोध के रस में डूबकर एकाकार हो गये होंगे, बूँद सागर से मिल गयी होगी। यहाँ भक्ति काव्य को भावक की दृष्टि से देखने की कोशिश की गयी है, समीक्षक या आलोचक की दृष्टि से नहीं। भावक का आधार होगा भाव, देश, काल, स्थान नहीं। यह उन कवियों द्वारा प्रस्तुत भक्तिरस में विलीन होना है, विसर्जित होना है। उनके भक्तिकालीन काव्यबोध में शुद्ध भावबोध है, उनका सरोकार हृदयव्यापार से है। इसलिए वहाँ भावरस का नद उमड़ता दिखाई देता है। वे कबीर के सामाजिक सरोकारों को भी भक्तिभाव में डुबाकर उपस्थित करते हैं। कबीर को देखने का अभिनव ढंग पंडित जी के पास था। पंडित जी ने अन्य समानधर्मी कवियों की ओर भी इशारा किया है, जो रुई धुनते थे, कपड़े बुनते थे, जूते बनाते थे। उन्होंने कबीर, नामदेव, पलटूदास, दरियासाहब आदि सहित तमाम सूफी भक्त कवियों पर भी दृष्टि फेरी है और पद्मावत की गंभीर व्याख्या की है और कहा है कि इनकी कविताओं में प्रेम पहले है, दर्शन बाद में। ध्यान की विशेष स्थिति में सूफी वैष्णव के समरूप हो जाते हैं, बूँद सागर से मिलकर एकाकार हो जाती है। पंडित जी 'गीत गोविंद' को अतृप्ति और विकलता का काव्य बताते हैं। उनके कृष्ण पूरी सृष्टि के चैतन्य और आनंद रुप हैं। वे मनुष्य के भीतर समग्र सृष्टि के प्रति अनुराग भरना चाहते हैं। उनकी ''लागौ रंग हरी'' कृति में लौकिक-अलौकिक मिलकर एक हो गये हैं। मीरा के प्रेम में कहीं देह नहीं है, सिर्फ प्रेम है। इस प्रकार उनके उपर्युक्त दोनों ग्रंथ भक्ति काल के रसबोध के प्राण हैं। उनकी दृष्टि में सूर के बालकृष्ण साधारण नहीं हैं, उनके लिए देवता भी तरसते हैं। गोपियों के साथ उनका साक्षात्कार होता है। वे पूर्णकाम हैं। सूर ने मुक्तक पद नहीं लिखे हैं, लीला प्रबंध लिखा है, उनका आप्लावन माधुर्य भाव का है। सूर की लीला का प्रयोजन कीर्तन है, जिसका भाव साधना से है। कुछ लीलाओं के पंडित जी द्वारा अन्वेषित नाम हैं-

विरुझना, परात्पर ब्रह्म का मचलना, ललक से देखना, गोपी का अपना कुछ न रहने देना, रूप-विकर्षण की लीला आदि, जिसका अभिप्राय है कि घर देह की आसक्ति में सुरक्षा नहीं है। कृष्ण का अन्तर्धान हो जाना अनासक्ति भाव पैदा करना अर्थात् काम नहीं, सिर्फ प्रेम। 'ऊधौ बिरहौ प्रेम करै' इसी का सूचक है। पंडित जी ने रहीम और रसखान को विशाल मानवीय बोध से देखा है। वे भक्तिकाल को मानव के अन्दर विशाल राग के जागरण का काल मानते हैं। वे हिन्दू जागरण की बात नहीं कहते, बल्कि किसी और शासक के जागरण की बात करते हैं जो हिन्दू-मुस्लिम सबके प्रति समान है, अलौकिक है। पंडित जी की अध्ययनशीलता, ज्ञान, प्रत्युत्पन्नता विलक्षण है। उनके उद्धरणों में उनका उद्देश्य स्वतः खुलता चलता है। पंडित जी के तुलसी पहाड़ी झरने की तरह पारदर्शी हैं, परन्तु गहराई अथाह है। वे तुलसी के तमाम महनीय मूल्यों का अन्वेषण करते हैं, जो तुलसी के इष्ट रहते हैं। वे विभीषण की शरणागति को पूर्ववर्ती आलोचकों से इतर रखते हैं। राम की बात भरत, लक्ष्मण, सीता कोई नहीं मानता, क्यों? क्योंकि यह सब कुछ राम के लिए ही होता है। सूर के कृष्ण नाते तोड़ते हैं, तुलसी के राम नाते जोड़ते हैं। परन्तु अंगद, निषाद, भरत, सीता सभी से जोड़कर, अन्ततः तोड़ते ही तो हैं। दूर करते हैं, किन्तु सभी राम को भाव रूप में साथ लेकर जाते हैं, जैसे कृष्ण को गोपियाँ लेकर जाती हैं। 'प्रजासहित रघुवंश मनि किमि गवने निजधाम' का क्या उत्तर है? अर्थात् तुलसी का धाम यही है। क्योंकि हर युग में हर व्यक्ति उसकी बाट देखता है। इसलिए राम सबके साथ यहीं हैं।

डॉ. चन्द्रकला त्रिपाठी ने कहा कि मध्ययुगीन रसमग्नता दिव्यता से परिपूर्ण है। पंडित जी मानते थे कि दुनिया को कोई चीज बदल सकती है तो वह है प्रेम और उसका सबसे सुन्दर रूप भक्ति है। पंडित जी प्रेम की ही खोज करते हुए मीरा तक जाते हैं। उनके सारे संदर्भ- भाव समाधि आदि रसमयता के संदर्भ हैं, जिसके केन्द्र में करुणा है, जो उन्हें वृहत्तर तक ले गयी है।

डॉ. रामसुधार सिंह का कहना था कि जहाँ से समीक्षक सोचना बंद कर देता है, वहाँ से पंडित जी मध्यकालीन कवियों पर अपनी कलम शुरु करते हैं। पंडित जी सूरदास के सिर्फ उन पदों को पकड़ते हैं जो उनके लक्ष्य में सहायक सिद्ध होते हैं और अध्येय को रससागर में डुबाते चलते हैं। वे सिद्ध कर देते हैं कि वह केवल कथा नहीं है, मुक्तक नहीं है, बल्कि लीला काव्य है। वे जिस प्रकार मीरा के रस में डूबते हैं उसी प्रकार सूर, रहीम, सबके रस में डूबते हैं। इस प्रकार पंडित जी जहाँ रूप, रस, राग तीनों एक में मिल जाता है, तब उस भाव की गहनता में मध्यकालीन कवियों का मूल्यांकन करते हैं। उन्होंने अज्ञेय, धूमिल आदि की कविताओं को समझने के लिए भी भावों की सघनता को महत्त्व दिया। वे आधुनिकताबोध एवम् सम्प्रेषणीयता की भी वकालत कविता के श्रेष्ठता के लिए आधुनिक कवियों के आलोक में करते हैं। वे तितिक्षा एवम् समर्पण को समीक्षा दृष्टि के लिए जरुरी मानते हैं तथा दूर्वादल ओर नारिकेल की तरह समर्पण की बात करते हैं।

सांस्कृतिक संध्या : लोक संगीत

सांस्कृतिक कार्यक्रम का प्रारम्भ सुप्रसिद्ध गीतकार श्री हरिराम द्विवेदी के कुशल संचालन में, उनके भोजपुरी गीत- 'बरसे बरसे त भींजे कंगनवा, चाहे भींजे त भींजे पिंजनवा, सुगनवा न भींजे हो' के साथ हुआ। प्रख्यात गायिका श्रीमती मालिनी अवस्थी ने अपने सुमधुर कंठ से भोजपुरी लोकगीतों की फूही-फूही, झिमिर-झिमिर, कभी फुहार तो कभी झींसा-बौछार, बूँदा-बूँदी तो कभी मूसलाधार बरसात, जिससे न केवल श्रोताओं का पिंजरा भींगा, अपितु इस मदिर बरसात ने उनके सुगनवा को भी नहीं छोड़ा।

'तुहरे सरन हम आई रे जगदम्बा माई', 'राम जी के भइले जनमवा चला हो करि आई दरसनवा', 'लवकुश जनम लिए आरे ठाढ़ि सिया पछताय', 'गोदनवा गोदइबे गोदना गोदउ गोदनहारी रे', 'राम पहिरें फूलन के सेहरा', 'तरसेला जियरा हमार रे नइहर में', 'आग लागे सइयाँ के सुरतिया रे दुखवा में बीतल रतिया', 'आरे रामा जल माँ पुरइन पात पवन संग डोले ए हऽऽरी', 'रंग डारूँगी नंद के लालन पे', 'श्याम तोहें नजरिया लग जाएगी', 'चढ़ल चइत चित लागे न रामा-बाबा के भवनवा', 'सइयाँ मिले लरिकइयाँ मैं का करूँ', 'काहें को ब्याही विदेश अरे लखिया बाबुल मोरे' आदि लोकगीतों की जादुई प्रस्तुति के माध्यम से श्रीमती अवस्थी ने श्रोताओं को अपनी विस्मृत होती जा रही परम्परागत लोकगीतों की मधुर स्मृति में आकंठ डुबो दिया। उनके साथ तबला पर श्री अशोक पाण्डेय, वायलन पर श्री शुकदेश मिश्र एवम् साइडइफेक्ट पर श्री संजय श्रीवास्तव ने कुशल संगत की।

18 जनवरी, 2009

प्रथम सत्र : 'हिन्दी भाषा एवं आधनिक परिदृश्य'

डॉ. बलराज पाण्डेय के संचालन में इस गोष्ठी की अध्यक्षता और बीज-भाषण दिया डॉ. युगेश्वर ने। इस गोष्ठी को सम्बोधित करते हुए डॉ. युगेश्वर ने कहा कि पंडित जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। व्यावहारिक तल पर भी वे बहुआयामी प्रकृति के थे। अंग्रेजी भाषा की ओर लोगों को आकर्षित करने वालों के प्रति कटाक्ष करते हुए डॉ. युगेश्वर ने कहा कि 'दो महीने में अंग्रेजी सीखिए' जैसी शिक्षा-पद्धति से प्राप्त अंग्रेजी ज्ञान से खुद उसी भाषा का कितना भला हो सकता है, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह भाषा भारतीय भाषाओं का भी नाश कर रही है और अपना भी कुछ कल्याण नहीं कर रही है। भाषा मनुष्य की पहचान है। इससे उसकी प्रकृति, स्वभाव और स्थान का ज्ञान प्राप्त होता है। आज का भाषा-ज्ञान मशीनों और व्यापारों नें कुंठित कर दिया है। भाषा का कार्य व्यक्तित्व का निर्माण करना है। कविता लगभग गद्य बनती जा रही है और, साहित्य से कविता का खत्म हो जाना, साहित्य का खत्म हो जाना है। इस स्थिति का मूल कारण हमारे विद्यालयों में अंग्रेजी का बढ़ता वर्चस्व है। भाषा के चार कार्य हैं- समझना, बोलना, लिखना और अभिव्यक्ति। अपनी भाषा की उन्नति में ही अपनी और अपने देश की उन्नति निहित है। भाषा में अध्यात्म का होना आवश्यक है, इसे भाषा में आना चाहिए। यही पश्चिमी संस्कृति से हमारी रक्षा करेगा।

डॉ. दिलीप सिंह ने भाषा के प्रति पंडित जी की चिन्ताओं और उनकी दूरदृष्टि से श्रोताओं को अवगत कराते हुए कहा कि पंडित जी ने हिन्दी को अपना कर हिन्दी का बहुत बड़ा उपकार किया है। भाषाविद् बड़ा शुष्क और कठोर होता है और उसकी चीर-फाड़ भी करता है। किन्तु पंडित जी हिन्दी के साथ भावपूर्वक जुड़े थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी और हम' में कहा है कि हिन्दी हमेशा से आत्म को त्याग कर चलने वाली भाषा है। यह अहं-विसर्जन पर बल देती है। जब तक भाषा के साथ एक मनुष्य है, भाषा किसी काम की नहीं। हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो जड़ों से जुड़ी होकर भी आधुनिक है। इसके लिए वे सतर्क 'दूर्वा' शब्द का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि इसके अन्तर्गत जो जीवन-रस है, वह कुचले जाने पर भी उसे पुनः उठाती है और अनेक शाखाओं के रूप में विस्तार देकर खड़ा करती है। डॉ. सिंह ने पंडित जी द्वारा प्रयुक्त 'धारणा', 'छानना', 'मथना' आदि शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा कि उनकी दृष्टि में भारतीय भाषाएँ मथी हुई भाषाएँ हैं। भाषा के प्रति उनकी चिन्ता, पहचान की चिन्ता है। पत्रकारिता के हवाले से उनका कहना था

कि पत्रकारिता के लिए भाषा में दो बातें जरूरी हैं- साम्राज्यवाद से टकराना तथा आम जन की भाषा में बड़ी-बड़ी बातें कहना, उन्हें समझाना और चेताना अर्थात् हिन्दी में प्रयोक्ता सामने है तथा पत्रकारिता में अनेक व्यक्ति सामने हैं। राजभाषा हिन्दी की दुर्दशा पर यह कहकर कि शायद मैं भावना में बह रहा हूँ, तथ्यपरक बातें अपने निबंधों में व्यक्त कीं। हिन्दी-उर्दू के सवाल पर उन्होंने कहा कि उर्दू के समर्थक-मानों सारे कुएँ में भाँग पड़ गयी है। इससे सर्वाधिक नुकसान मुसलमानों को हो रहा है। उनकी भाषा उर्दू है, जबकि वह उसे न तो बोलना जानता है, न लिखना। इस प्रकार वे मुसलमानों को प्रयोक्तावादी बात कर रहे हैं। उन्होंने तमाम मुसलमान पत्रकारों की बात की जिन्होंने हिन्दी पत्रकारिता में अपनी पहचान बनायी। उन्हें अपनी हिन्दी में उर्दू के प्रयोग से परहेज नहीं था। भाषा के साथ प्रयोक्ता की उनकी अवधारणा उनको सामाजिक भाषाविद् बनाती है। हिन्दी की बातें उन्होंने जातीयता, अस्मिता और राष्ट्रीयता के स्तर पर उठायी हैं। जब वे राष्ट्रीय अस्मिता की बात करते हैं, तो दक्षिणी भाषाओं की भी बात करते हैं और उनके सामाजिक, सांस्कृतिक पक्षों पर विलक्षण टिप्पणियाँ भी करते हैं। उन्होंने हिन्दी के सारे पक्षों को देखने का काम किया है। बहुभाषिक स्थिति में उन्होंने हिन्दी के लिए, उसके दायित्व पर लिखा, तथा हिन्दी भाषा विज्ञान को बहुत अनुशासनात्मक बनाया। साहित्य, भाषा और संस्कृति, तीनों उनके चिन्तन के मूल में थी।

डॉ. माणिक गोविंद चतुर्वेदी ने कहा कि हिन्दुस्तान अंग्रेजी का सबसे बड़ा मार्केट है, किन्तु विश्व में उसका स्थान तीसरा है। प्रथम पर हिन्दी, दूसरे पर चीनी तथा अंग्रेजी तीसरे स्थान पर है। डॉ. चतुर्वेदी ने तमाम भारतीय भाषाओं के प्रति पंडित जी की अभिनव दृष्टि से श्रोताओं को रूबरू कराते हुए कहा कि पंडित जी समस्त श्रेत्रीय भाषाओं को स्वतंत्र भाषा मानते थे। वे हिन्दी का एक शब्द कोश एवम् मानक व्याकरण बनाना चाहते थे, जो नहीं बन सका। वे कहा करते थे कि भाषा की आत्मा उसका व्याकरण है।

डॉ. जितेन्द्र नाथ पाठक ने पंडित जी के व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए बताया कि वे अपने अंतिम क्षणों में भी भारत में अंग्रेजी के प्रति बढ़ते व्यामोह और उसके दबाव में हिन्दी की स्थिति को लेकर चिन्तित थे।

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी का कहना था कि हिन्दी के पक्षधर आचार्यों ने जब राजभाषा में सत्ता संभाली तो वे ही हिन्दी के प्रति विमुख हो गये। इनसे पूर्व सचमुच हिन्दी राष्ट्रभाषा थी, जो लगभग भारत के सभी प्रांतों में किसी-न-किसी बोलियों की सहचरी होकर बोली, समझी जाती थी। डॉ. त्रिपाठी ने पंडित जी की अनुवादविषयक चिन्ताओं पर प्रकाश डालते हुए पं. नेहरू के 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' के पूर्व और पश्चात् की स्थितियों, संदर्भों, उनके वक्तव्यों एवं विसंगतियों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए, उनके स्वभाव और दबाव में लिखने के पार्थक्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया। अनुवादों के संबंध सहित अन्यान्य प्रसंगों पर चर्चा करते हुए डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि सिर्फ उन्हीं चीजों को जोड़ा जाना चाहिए जो हमारी संभावनाओं के विकास में सहायक सिद्ध हों। हिन्दी और अंग्रेजी के प्रति भारतीय संविधान के दोहरे चरित्र, बाजारवाद, वैश्वीकरण, उदारीकरण, व्यावसायिक मानसिकता, राजभाषा-विभागों, राज्य सरकारों के व्यवहार, सरकारी अनुदानों के दुरुपयोग आदि विसंगतियों पर उन्मुक्त टिप्पणी करते हुए डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि हिन्दी के प्रति जिस निष्ठा की जरूरत है, वह कहीं दिखायी नहीं देती। हिन्दी भाषा की तमाम विकृतियों, व्याकरणिक दोषों, वर्तनी-विपर्यय, उच्चारणजन्य त्रुटियों, भाषायी अराजकता, बोल-चाल से लेकर लिखने-पढ़ने तथा कम्प्यूटर आदि की, भाषा पर पड़नेवाले प्रभावों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए डॉ. त्रिपाठी ने अन्त में पंडित जी के कथन 'चिन्तन का उच्चतम मूर्त रूप संस्कृति है' की व्याख्या प्रस्तुत की।

द्वितीय सत्र : 'भारतीय भाषा-चिन्तन, पाणिनि एवं भाषायी सरोकार'

संगोष्ठी के अध्यक्ष थे डॉ. माणिक गोविंद चतुर्वेदी एवं संचालन किया श्री ब्रजेन्द्र त्रिपाठी ने। बीज-व्याख्यान देते हुए डॉ. दिलीप सिंह ने कहा कि पंडित जी एक ऐसी भाषा के समर्थक थे जो फुरहरी हो, उड़ती चले, गुड़गड़ी और नयी भी हो उन्होंने सम्प्रेषण एवम् सम्प्रेषण जनकव्याकरण की भी चर्चा अनेक स्थलों पर की है। भाषा में साझेदारी की बात तो वे बार-बार कहा करते थे। सम्प्रेषण के लिए शब्द चयन और संतुलन तथा सम्बोध्य को विशेष रुप से ध्यातव्य मानते थे। हमारी भाषा का संतुलन इसलिए बिगड़ गया है कि हम यह कोशिश करते हैं कि हिन्दी में क्या मिला दिया जाय, इससे बहुत सारे उपद्रव होते हैं और शुद्धतावादियों का कष्ट भी यही हैं। इसके लिए पंडित जी प्रयोग एवं ग्राह्यता की बात करते हैं और व्यक्ति की सम्पृक्तता को महत्त्व देते हैं। सम्प्रेषणपरक व्याकरण चिन्तन के सन्दर्भ में वे पूर्व आचार्यों की भी बात करते रहते थे। इसके लिए वे व्यक्ति एवम् व्यक्ति के मध्य की स्थितियों पर भी विचार करने का सुझाव देते हैं। उन्हें बतरस का साहित्य प्रिय था। पतंजलि का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि हमारे यहाँ वक्ता एवम् श्रोता की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। जिनमें तीन बातें- सूचना, प्रोक्ति और संदर्भ आवश्यक हैं। फिर अपना मन्तव्य देते हुए तीनों की स्वीकृति देते हैं, किन्तु सम्प्रेषण के लिए दो बातें और जोड़ देते हैं- प्रभाव और उसका परिणाम क्या होगा? साथ-साथ यह भी कि इन दोनों की प्रतिक्रिया क्या होगी? वे पतंजलि की चार बातों- अभिप्राय, सामाजिक स्वीकृति, औचित्य एवं संहिता को पाश्चात्य विचारकों के आलोक में भी देखते हैं और परिस्थिति के साथ औचित्य को जोड़ कर परिस्थिति के अनुसार निर्धारित वचनों के मानदण्डों को रखते हैं। प्रयोजन क्या होगा? इसके लिए अभिवादन की बात करते हैं क्योंकि अभिवादन करेंगे तो उधर से आशीर्वाद मिलेगा। प्रयोजन के बाद वे वक्ता की इच्छा, प्रहास, क्रोध, आज्ञा, भर्त्सना, अनुष्ठानिकता के लिए डिस्कोर्स की बात करते हैं। वे कहते हैं कि लांछित करने एवं मनुहार करने की भी भाषा होती है। 'आ' को उन्होंने 'आज्ञा', 'आन' को 'मनुहार' कहा और 'आएगा न' यह स्वीकृति सूचक है। उन्होंने 'भाषाक्षरण' की भी बात उठाई है और कहा है कि भारतीय भाषाएँ मर नहीं सकतीं, उनका क्षरण हो सकता है, वे भाषा से खेलने की बात पर कठोर प्रतिक्रिया करते हैं और भाषा के खेलने की बात करते हैं। उन्होंने सर्जनात्मकता, व्यावहारिकता, अभिव्यक्ति एवम् सम्प्रेषणीयता पर विशेष बल दिया है।

डॉ. रामबख्स मिश्र, डॉ. कृष्णचन्द्र दूबे एवम् डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र ने भी विषय के आलोक में भाषा के लिए व्याकरण के महत्त्व को रेखांकित किया और कहा कि पाणिनि का ग्रंथ व्याकरण नहीं है, भाषा-विज्ञान का गणित है। श्रीरामयत्न शुक्ल ने कहा कि पंडित जी का हिन्दी को पाणिनि से जोड़ने का अभिप्राय भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठाभावना का सूचक है, जिसे उन्होंने हिन्दी भाषा के माध्यम से समग्र भारत तक प्रेषित किया। भाषा की व्युत्पत्ति, उच्चारण, उच्चारण-कर्म, प्रयोजक आदि की चर्चा करते हुए श्री शुक्ल ने भाषा, शब्द और ज्ञान की व्याख्या भी विषयानुकूल ढंग से की। उन्होंने भाषा की उत्पत्ति को ऋग्वेद से बताते हुए, उसे ईश्वर-प्रसूता कहा तथा भारतीय भाषा में नित्य स्फोट की बात पर भी प्रकाश डाला।

अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में डॉ. माणिक गोविंद चतुर्वेदी ने दो टूक शब्दों में यह कहा कि भारतीय विश्वविद्यालयों में पाणिनि को नहीं, विदेशी विद्वानों को पढ़ाया जा रहा है। हमारा निवेदन है कि उन्हें जितना शीघ्र हो यहाँ से विदा किया जाना चाहिए, तभी भारतीय भाषाओं का कल्याण सम्भव है।

तृतीय सत्र : 'सम्मान समारोह एवं समापन सत्र'

डॉ. अरुणेश नीरन द्वारा संचालित इस सत्र के मुख्य अतिथि थे डॉ. धीरेन्द्र प्रताप सिंह, कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा अध्यक्ष थे डॉ. अच्युतानन्द मिश्र। डॉ. नीरन ने कहा कि पंडित जी के भीतर पंचमी का गणित सिद्ध था। पाँच दिवसीय इस महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम के आलोक में 'पाँच' की संख्या पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नीरन ने निराला जी एवम् भारती जी के पारस्परिक संवाद का जिक्र भी किया तथा कहा कि यह प्रलाप नहीं है, साहित्य की अवधारणा है, संस्कृति की अवधारणा है जिससे हम संस्कृत होते हैं। अतः यह हमारे जीवन की अवधारणा है। भारत के कोने-कोने से आये प्रतिभागियों और काशी में हुए इस साहित्यिक अनुष्ठान के महत्त्व की व्याख्या करते हुए डॉ. नीरन ने स्वागत वक्तव्य के लिए डॉ. महेश्वर मिश्र का आवाहन किया।

श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए डॉ. मिश्र ने कहा कि 'पाँच' की संख्या का हमारे यहाँ बड़ा महत्त्व है। यह मंगल का प्रतीक है और सर्वाधिक पुण्यकर्म तथा विवाह जैसा शुभकर्म भी पाँच दिनों का होता है। यह पंचदिवसीय संवाद मात्र स्मृति नहीं, अतिपु साहित्य, साधना, संस्कृति एवं दर्शन के प्रति पंडित जी के अवदानों के साथ संवाद था। उनका परिवार बहुत बड़ा था। देश में ही नहीं, विदेशों में भी, लगभग जीवन के हर क्षेत्र में उनका परिवार प्रसरित है। लोग कहते थे कि उनके पैर में चक्र था। वे सदैव चलते ही रहते थे और जीवन के अंतिम दिनों तक वे निर्देश देते रहे। लिखने का क्रम तो अविराम था। शैली सूत्रबद्धता की थी। डॉ. मिश्र ने पाँच दिवसीय संवाद-यात्रा में सहयामी होने के प्रति प्रतिभागियों का अभिनन्दन किया।

डॉ. अरुणेश नीरन ने संक्षेप में, पाँच दिवसीय कार्यक्रम के मुख्य विचार बिन्दुओं, वक्ताओं, उनके विचारों तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि की मूलभूत बातों को रखने की चेष्टा की और इस संवाद को सार्थक संवाद बताते हुए पंडित जी के साहित्य में आए 'लोक' शब्द पर अपनी उन्मुक्त टिप्पणी देते हुए कहा कि लोक क्या है? लोक के साथ रहना, लोक संग्रह है, साथ चलना, लोक यात्रा है और यही कारण है कि पंडित जी के निबंधों में जो कुछ है, वह लोक परम्परा से प्राप्त है तथा अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ मूर्तमान हुआ है। डॉ. नीरन ने 'महाकाव्य विमर्श' की ओर संकेत करते हुए कहा कि राम प्रतीक हैं मर्यादा के, कृष्ण प्रतीक हैं रस के। रस जब बाहर छलकता है तब अनर्थ की सृष्टि होती है और भीतर बहता है तब काव्य का सर्जन होता है। पंडित जी के रस में राम-कृष्ण दोनों मिलते हैं। उनका रस मर्यादित रस था।

कार्यक्रम में 'विद्याश्री न्यास' की ओर से डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र को उनकी कृति 'अराजक उल्लास' के लिए प्रथम 'आचार्य विद्यानिवास मिश्र स्मृति सम्मान' प्रदान किया गया। कोलकाता में अस्वस्थ चल रहे डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र की अनुपस्थिति में यह सम्मान, उनके लिखित आग्रह पर, डॉ. बलराज पाण्डेय ने अधिकृत रूप से ग्रहण किया।

समारोह में 'विद्या' पंडित विद्यानिवास मिश्र एवं 'श्री' श्रीमती राधिका देवी की स्मृति में स्थापित विद्याश्री न्यास की पत्रिका 'चिकितुषी' का लोकार्पण किया गया। डॉ. वागीश शुक्ल के सम्पादन में सम्पादित इस पत्रिका में हिन्दी भाषा, भाषा-विज्ञान, साहित्य की विविध बातों से सम्बन्धित आलेख संकलित हैं।

कार्यक्रम को सम्बोधित करते हुए मुख्य अतिथि डॉ. धीरेन्द्र प्रताप सिंह ने कहा कि पंडित जी से उनका प्रथम परिचय तीस वर्ष पूर्व, उनके लेख 'मेरा देश वापस लाओ' को पढ़कर हुआ था और मैंने तत्काल सम्पादक को पत्र लिखा था कि पंडित जी किस देश को वापस लाने की बात करते हैं? भारतीय

स्वतंत्रता के लिए बलिदान होने वाले अमर शहीदों को याद करते हुए डॉ. सिंह ने कहा कि क्या यह वही देश है? इन 30 वर्षों में बदला क्या है? क्या वह देश वापस आया, जिसे पंडित जी वापस लाना चाहते थे? हमने बहुत प्रगति की है किन्तु उस लोक को भूल गये हैं, जिसके मंगल और सुख की कामना पंडित जी आजीवन अपने आलेखों के माध्यम से करते रहे हैं। जिन मूल्यादर्शों के लिए यह देश विश्व में जाना जाता रहा है, उनकी पुनर्प्रतिष्ठा की आज आवश्यकता है। उस देश को वापस लाने की बात हमें भी करनी होगी। साहित्य के संवर्द्धन और उन्नयन में पंडित जी के योगदान की चर्चा करते हुए डॉ. सिंह ने कहा कि वे विकास को प्राथमिकता देते थे और परम्परा को विकास के आलोक में देखने के पक्षधर थे, किन्तु रूढ़िवादिता को देश और समाज के लिए घातक मानते थे।

अध्यक्ष को आमंत्रित करने से पूर्व पंडित जी के देश का अर्थबोध कराते हुए डॉ. अरुणेश नीरन ने कहा कि पंडित जी का देश इतिहास नहीं, भूगोल नहीं, एक विचार और एक जातीय स्मृति है। भूगोल और इतिहास के रूप में तो वह देश मजबूत होता ही जा रहा है किन्तु जातीय स्मृति के रूप में निरंतर कमजोर होता जा रहा है। पंडित जी इसी को लेकर चिंतित थे।

अध्यक्षीय सम्बोधन में डॉ. अच्युतानन्द मिश्र ने कहा कि देश को सुधारने की बहुत बड़ी कार्ययोजना पं. जी के पास थी, लेकिन दुर्भाग्य से वह सामने नहीं आ सकी। डॉ. मिश्र ने पंडित जी से जुड़े अनेक संस्मरणों को भी सुनाया तथा उनके विराट् व्यक्तित्व के अनेके अनछूए पहलुओं को श्रोताओं के समक्ष रोचक ढंग से उपस्थित किया। आज के संबंधों पर पंडित जी के कटाक्ष से रूबरू कराते हुए डॉ. मिश्र ने कहा कि पंडित जी कहते थे कि आज हम संबंधों को नहीं, संबोधनों को जीते हैं, संबंध तो गौण हो गये हैं।

'सम्मान समारोह एवम् समापन सत्र' की पूर्णता विद्याश्री न्यास के सचिव एवं डॉ. दयानिधि मिश्र के धन्यवाद ज्ञापन से हुई।